हर्षिता प्रकाशन
ई-11/5, कृष्ण नगर दिल्ली-110051

तू-तू मैं-मैं

(हास्यरस की अनूठी पुस्तक)

लेखक

"व्यासाचार्य"

(उज्जयिनी)

संयोजन/संपादन

राजशेखर व्यास

स्वयं समर्पित

श्रीमान् श्री....श्री अक्ल सप्लाई एंड कंपनी के प्रमुख और सभ्य-समाज!

यह अधूरी या पूरी, मीठी या सूखी कृति, आप सभी सदस्यों के उस शास्त्रार्थ का परिणाम है, जो इकट्ठा होकर दैनिक कार्यक्रम का विषय बनता था। कंपनी के नियमानुसार कोई किसी को प्रेरणा नहीं करता, अतएव यह स्वयं प्रेरित ही है। इसका श्रेय कौन किसे दे, और कौन किसे समर्पित करे? इसे स्वयं समर्पित कर लीजिए—हो जाएगी।

अक्ल सप्लाई एंड को. ऑफिस
उज्जैन।

एक आप ही में से
—मैं

वास्तविक

'तू-तू मैं-मैं' आज अधूरी ही—वास्तव में अधूरी ही—अब आपके हाथों मे जा रही है। पूरी करने का अवकाश अथवा इस समय चुहल का माद्दा मुझमे नहीं है। जिस समय मैं इसे पूरी करने का विचार कर रहा था, श्रीयुत गुप्तजी का तक़ाज़ा लगा, तब से न जाने क्यों मेरे दिमाग से इस 'चुहलबाजी' ज़र्म नष्ट होते हुए मालूम हो रहे थे। आखिर इस पूर्व सूचना का कारण समझ गया, ता. 30-11-35 को मेरे पूज्य पिताश्री का इस लोक से प्रस्थान हो गया। इस समय मैं बजाय 'हंसी' के कोई करुणा करना होता तो कुछ बतला सकता! कल्पना से या लेखनी से नहीं, प्रत्यक्ष! और अब-अब तो कह नहीं सकता यह 'बचपन' मुझमें आएगा या नहीं, इस शैली को मैं क़ायम रख सकूंगा या नहीं। अस्तु, मुझे इसमें एक दो विषय और जुड़ाना था, अब जुड़ा न सकूंगा, इसलिए यहीं 'इति' करता हू।

इसमें जो 'वस्तु' आई है, या तो वह 'अक्ल सप्लाई' ऑफिस से निकली हुई है, या 'व्यासाचार्य' की है, मगर है—चोरी की वस्तु! इसके अलग-अलग नामधारी व्यक्ति आज एक जगह एकरूप हो गए हैं। द्वैत नष्ट होकर अद्वैत-सिद्धि हुई है। साहित्यिक कोलाहल में इसे भी एक 'तूती की आवाज' मानिए। जो सुन सकेगा, उसे ही सुनाना है, बस। अगर फिर 'दिमाग शरीफ़' ने मदद दी तो आइंदा कुछ और, वर्ना 'जो मिले उसी से खुश रहो'!

उज्जैन

15-12-35 —**व्यासाचार्य**

(प्रथम प्रकाशन की भूमिका)

क्षमा-याचना

लगभग 3 वर्ष हुए जब कि मैं यह पुस्तिका व्यास जी से जल्द ही प्रकाशित कर देने का वादा कर लाया था। कुछ समय के बाद व्यासजी का तक़ाजा-पर-तक़ाजा आने लगा और मैं भी उनसे अब तब करता ही गया। इस प्रकार सैकड़ों पत्र आए-गए। दूसरा कोई मेरे इतने वादों पर शायद क्रुद्ध हो जाता; किंतु धन्य है व्यासजी को कि एक भी पत्र उनका रोषपूर्ण नहीं आया। वास्तव में व्यासजी शांतरस के अवतार हैं। मैंने भी जान-बूझकर प्रकाशन रोक नहीं रखा था। टाइम-टेबुल में 36-37 हजार का घाटा हो जाने के कारण मेरी परिस्थिति बड़ी डावांडोल हो गई थी। आर्थिक कठिनाइयों में मैं जकड़ गया था—मेरे इतने वादों का यही कारण था। ईश्वर की कृपा से अब परिस्थिति धीरे-धीरे अनुकूल होती जा रही है। व्यासजी से तथा पब्लिक से इस पुस्तिका को इतनी देर से प्रकाशित करने के लिए करंबद्ध क्षमाप्रार्थी हूं। इसे बहुत जल्दी में मुझे छपाना पड़ा है। यत्र-तत्र कुछ अशुद्धियां छूट गई हैं। अगले संस्करण में वे ठीक कर दी जाएंगी। यदि व्यासजी ने चाहा, और उन्होंने दो-चार अपनी कहानियां और लिख भेजीं, तो इसका कलेवर और भी बढ़ जाएगा।

काशी
10-12-36

विनीत—
मुकुंददास गुप्त 'प्रभाकर'
(प्रथम प्रकाशक का निवेदन)

अनुक्रमणिका

आकलन

व्यास जी का मूल्यांकन ऊर्ध्व रेखा में करना असंभव है। उन्हें जानने के लिए एक व्यापक फैलाव से गुजरना होगा। क्योंकि उनके व्यक्तित्व की तरह उनका कृतित्व भी बहुआयामी है, और हर क्षेत्र में एक निर्णायक भूमिका तक पहुंचा है वे एक साथ ज्योतिर्विद् तत्त्व-चिंतक, इतिहास-संशोध, साहित्यकार, पत्रकार, कर्मठ कार्यकर्त्ता, उग्र क्रांतिकारी, हिमशीतल मनुष्य और आत्मानुशासित व्यक्ति हैं।

एक साथ लोकोन्मुखी और अंतर्मुखी साधना इतनी जटिल और द्विविधा भरी होती है—और इतनी खतरनाक भी कि व्यक्ति को जीवन भर सही संदर्भो में समझने नहीं देती। हर कोई उसे दूसरी भूमिका में समझ कर अवमूल्यित और उपेक्षित करता रहता है। दुहरे-तिहरे कर्म ओढ़ना, और वे भी ऐसे जो परस्पर विरोधी लगते हों, व्यक्ति की अपने साथ की गई दुर्घटना है। जो लोग व्यासजी को ज्योतिषी समझते हैं, वे शायद ही यह जान पाते हों कि इस व्यक्ति ने इतिहास और संस्कृति के भीतर कितने गहरे धंसकर, क्या किया है आगम, निगम साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व का कितना आलोढ़न किया है? नर्मदा की सारी उपत्यका में, मालवा की प्राचीन और प्रागैतिहासिक संस्कृति को खोजने के लिए कितनी यायावरी की है? अपने वर्तमान को जमीन पर खोदकर निचली और निचली गर्भ-राशि के जरिए उसे विस्मृत अतीत से जोड़ने का कितना सघन प्रयास किया है, ताकि अपनी सही बुनियाद से उसका साक्षात्कार हो।

जो लोग उनके अन्वेषक से परिचित हैं, उन्हें क्या पता कि अन्वेषण की गरिमा को रचनात्मक स्तर तक पहुंचाना कितना दुस्साध्य

होता है? कितना दुस्साध्य होता है एक अंतर्मुखी साधक का बाहरी दुनिया से समझौता करना, खासकर उस महत्त्व की स्थापना के लिए, जिसका उसके बच्चों के भरण-पोषण से कोई रिश्ता नहीं है! क्योंकि किसी विस्तृत ऐतिहासिक प्रदेश और उसके साहित्यिक-सांस्कृतिक व्यक्तित्वों को शोधी विद्वानों के बौद्धिक व्यायाम से बाहर निकालकर, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्याप्ति देना; उनके सांस्कृतिक, बौद्धिक, कलात्मक आशय को रचनात्मक रूप में प्रतिष्ठित करना, कोरे पाण्डित्य से नहीं हो सकता था; इसके पीछे कर्मठता, लगन, समझ और समझौते की एक दीर्घ परंपरा रही है।

अकेले शोध करना ही एक लंबी यातना से गुजरना है, और अगर उसे रचनात्मक स्मारक का इतना असाधारण और भव्य रूप देना हो तब तो यह एक अलग किस्म की मानसिक एवं बाहरी दुनिया का तनाव झेलने की तरह है। और यदि इन दोनों कामों को अलग-अलग समझा जाता है तो इसलिए नहीं कि सचमुच ही वे अलग हैं, बल्कि इसलिए कि मनुष्य की सीमाएं होती हैं।

व्यासजी की इस अन्विति को न समझने वाले संवेदनहीन विद्वानों पर मुझे तरस आता है। वे छोटे-मोटे अखबारों में लिखे उनके सामयिक लेखों की वजह से उनका अवमूल्यन करते हैं, अगर आम आदमी का यह ढंग हो तो बात समझ में आती है, क्योंकि उसने सम्मेलन-पत्रिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, परिषद् पत्रिका, आलोचना, सरस्वती जैसी अनेकानेक पत्रिकाओं में उनके पांडित्यपूर्ण अनुसंधाता को तो देखा नहीं है, और जो देखा है, वही उसकी समझ का आधार है। लेकिन पंडितगण अपने सामंतवादी तरीकों से हटना नहीं चाहते। किसी विद्वान् द्वारा जनता की रोजमर्रा की समस्याओं या लोकधर्मी कामों को छूते ही वे उसे जाति भ्रष्ट घोषित कर देते हैं और टेढ़ी नाक से उसका नाम लेते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि तात्कालिक समस्याओं और स्थितियों पर लिखकर व्यक्ति एक तरह से अपनी ही बलि चढ़ाता है। यह प्रक्रिया समाज को भरने के प्रयास में खुद को खाली करने जैसी है। कोई नहीं कहता कि इस लेखन

का कोई साहित्यिक मूल्य है, लेकिन अगर उसका कोई समकालीन मूल्य है तो उसे नकारा नहीं जा सकता है। व्यासजी के अखबारों वाले रूप और उनकी कर्मठता ने ही उन्हें पुस्तक कोटों की दुनिया से बाहर लाकर खडा कर दिया है। यह उनकी अतिरिक्त शक्ति है।

उनकी कर्मठ उपलब्धि के उदाहरण स्वरूप उज्जयिनी को ही लिया जा सकता है। आज इस नगरी का जो रूप और ठनगन है, उसके मूल मे पं. व्यास ही हैं। अगर व्यास जी नहीं होते, तो मुझे शक है कि उज्जैन मे विक्रम विश्वविद्यालय, विक्रम कीर्ति मंदिर, प्राच्य विद्या शोध-प्रतिष्ठान होते। यहां अखिल भारतीय स्तर पर कालिदास समारोह भी शायद ही मनाया जाता। तब उज्जैन कदाचित् मेले-ठेले की धार्मिक और दकियानूस नगरी रह जाती; यहां पंडे, पुरोहित और पंचक्रोशी के यात्री तो नजर आते, लेकिन भगवत् शरण उपाध्याय, सुनीतिकुमार चटर्जी, महादेवी वर्मा, प्रो. बॉशम, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिदेओ किमुरा, कामिल बुल्के, नंद दुलारे वाजपेयी, डॉ. संपूर्णानंद, डॉ. सुमन. पतंजलि शास्त्री, डॉ. राघवन, ओंकारनाथ ठाकुर, राजेंद्र बाबू, जवाहरलाल नेहरू प्रभृति विद्वान्, साहित्यकार और राजनेता शायद ही बौद्धिक रूप में इस नगरी को अपना स्पर्श दे पाते। क्या किसी नगर के इतिहास में यह कम महत्त्वपूर्ण है कि एक पद और अधिकार से रहित व्यक्ति पूरे-के-पूरे शहर को एक युग से उठाकर दूसरे युग में रख देता है? व्यासजी ने कालिदास, विक्रम या सांदीपनि के नाम पर मंदिर या मठों की प्रतिष्ठा नहीं की; शिक्षा अनुसंधान और कला संस्थान खुलवाए। धार्मिक, दकियानूसी और वायवीय जीवन-प्रणाली को अतीत के सहारे उन्होंने जो बौद्धिक और सांस्कृतिक मोड़ दिया है, वह उनके पांडित्य और शोध की रचनात्मक दृष्टि का प्रतीक है। कालिदास और विक्रम के जरिए उन्होंने भारतीय साहित्य और संस्कृति को सागर-पार उतारने का प्रयास किया है।

उन्होंने समूचे मालव-प्रदेश को अपने गर्वीले अतीत से जोड़ा है। रोटी और अन्न को अपनी खुशहाली मानने वाले इस प्रदेश को व्यासजी की शोधों ने समझाया है कि उसका अतीत कितना प्रबुद्ध, उज्ज्वल, और

मानव मूल्यों के प्रति आस्थावान रहा है? साहित्य, कला, भाषा, ज्योतिष, धर्म, सभ्यता, पराक्रम और राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से उसकी जड़ें कितनी गहरी और पुख्ता हैं? उसकी सांस्कृतिक सीमाएं कितनी व्यापक हैं? इस दृष्टि ने उनकी शोध में जीवन और सार्थकता उत्पन्न कर दी है।

आठ वर्ष तक विक्रम के संपादक के रूप में व्यास जी ने जो एक हजार पांच सौ छत्तीस पृष्ठ लिखे हैं—उनमें समकालीन राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, धर्म, समाज और संस्कृति का कई जगह इतना स्पष्ट और प्रखर विश्लेषण है कि 'विक्रम' की पूरी फाइल से गुज़रने पर मुझे प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. करंदीकर के इस कथन में कोई संदेह नहीं रहा है कि व्यासजी 'जीवित विश्व कोश' हैं। हां, इस अत्युक्ति से अवश्य ही इनकार किया जाना चाहिए कि व्यासजी के सारे विचार श्लाघ्य और प्रगतिशील हैं। उसमें कुछ ऐसा भी है जो समय को कहीं नहीं पहुंचाता, बल्कि एक दकियानूसी से निकालकर दूसरी दकियानूसी में धकेल देता है। स्वाधीन भारत के मंत्री का बिना टोपी पहने शपथ लेना व्यासजी को चुभ जाता है। नारी-शिक्षा, परिवार-नियोजन जैसे सामाजिक विषयों से लेकर अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों में उनके विचारों की कुछ सीमाएं हैं। लेकिन यदि हम उनके समयुगीन परिवेश, परंपरा, व्यवसाय और इतिहास-प्रेम पर ध्यान दें तो हमें लगेगा कि उन्होंने कितना अंतराल लांघा है? सन् 1920-22 में जब उन्होंने लिखना प्रारंभ किया था, हमारा सामाजिक संसार और उज्जैन की क्या हालत रही होगी? कितनी धार्मिक और सामाजिक संकीर्णता की चुनौती झेलकर व्यक्ति को—खासकर परंपरागत पंडित वंश के व्यक्ति को—परिवर्तन की बात करनी पड़ती होगी! समाज की जड़ता को धीमे-धीमे तोड़ने की ऐतिहासिक प्रक्रिया से व्यासजी का समकालीन लेखन जुड़ा है। इसलिए 1972 में बैठकर बिना पीछे की ओर लौटे हम उनके विचारों का सही मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे।

ज़ाहिर है, अपने जमाने में साधारण से विद्रोह के लिए व्यासजी का कितना असाधारण प्रयत्न करना पड़ा होगा? यों विद्रोही वे शुरू से ही रहे। सबसे पहले तो उन्होंने अपनी पितृ-परंपरा से ही विद्रोह किया

कि बजाय ज्योतिष को जीवन के केंद्र में रखने के उसे उन्होंने नेपथ्य मे ढकेल दिया और अपने युग की सशस्त्र क्रांति तथा विद्रोही लेखन से जुड गए। बोल्शेविक क्रांति की वकालत से अपना लेखन प्रारंभ करते हुए, उन्होंने 'देशी नरेशों के प्रजानाशक खर्च' आज के हाहाकार का कारण : पूंजीपति', 'नियम विरुद्ध राजतंत्र का ढोंगी क़ानून', आदि खून खौला देने वाले लेख लिखे। लेख ही नहीं लिखे बल्कि सशस्त्र क्रांति मे हिस्सेदारी भी की। उस वक्त सूर्यनारायण व्यास का नाम क्रांतिकारियों की बही में 'विश्वस्त सहचर' और पुलिस की बही में 'खतरनाक राजनीतिज्ञ' के रूप में दर्ज था। ठीक भी था, इस व्यक्ति ने छः महीने तक गड़ोदिया केस (सरदार भगतसिंह को छुड़ाने के लिए किए गए डकैती काड) के प्रमुख अभियुक्त को अपने घर में छुपा रखा था; अजमेर मे लार्ड मेयो के स्टेच्यू का हाथ तोड़ने वालों में शामिल था, घर में से क्रांति-कारियों के लिए 49 मीटर बैंड पर गुप्त रेडियो स्टेशन का संचालन करता था। इसने अंग्रेजों के खिलाफ पर्चे छपवाए और बंटवाए थे। स्वयंसेवको का संगठन किया था। हालांकि 1934 के बाद से उसने ऐतिहासिक लेखन और ज्योतिष के व्यवसाय में ध्यान लगा लिया था, फिर भी जो राजनीतिक हलचलें जब तब कर देता था, उनकी वजह से सिंधिया नरेश को इस 'खतरनाक राजनीतिज्ञ' को 'इंडिया डिफेंस एक्ट' के तहत 1946 में एक वर्ष के लिए घर में नज़रबंद करवाना पड़ा।

बावजूद इतने खतरनाक लेखों के राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार ज्योतिर्विद् के रूप में व्यासजी का बहुत सम्मान करते रहे। एक राजा ने तो दरबार में उन्हें पैरों में सोना पहनाकर उनका सम्मान किया, एक राजा ने उन्हें सलाह के लिए यूरोप बुला भेजा, अनेक बहुमूल्य भेंटें व्यासजी को सेठों और राजाओं से प्राप्त हुई हैं। लेकिन ज्योतिषी के रूप में अपने को स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा उनमें प्रायः नहीं रही, न उन्होंने ज्योतिष पर ज्याद कुछ लिखा। लेकिन कई बार चमत्कृत कर देने वाली भविष्य वाणियां उन्होंने अवश्य कीं। विश्व-विख्यात ग्रीनविच प्रयोगशाला में भारतीय सूर्य विषयक गवेषणा की वैज्ञानिक व्याख्या करके उन्होंने संचालकों और

अनुसंधाताओं को विस्मित कर दिया (जिसकी यूरोप के अखबारों में चर्चा भी हुई) फिर भी यह उनके जीवन की त्रासदी ही रही कि वे जिस विद्या की मात्र 'व्यवसाय' कहकर उपेक्षा करना चाहते थे, वही उनकी कीर्ति का आधार रही और जिसे महत्त्व देते रहे वह गौण बनी रही। (इसलिए उनके वास्तविक कृतित्व का सामने आना बहुत आवश्यक था।

जीवन के इतने आयामों को एक साथ जीने वाले पं. सूर्यनारायण व्यास के व्यक्तित्व में कम दिलचस्प नहीं है—उनका स्वाभिमान। एक ओर जो व्यासजी विक्रम विश्वविद्यालय के लिए सिंधिया नरेश के आगे झोली फैलाते हैं, वे ही 'विक्रम' पत्र की सहायता के लिए घर आए पंचहजारी चेक को लौटा देते हैं, ताकि अपने पत्रकार की स्वतंत्र और प्रखर आत्मा को कृतज्ञता के बोझ से बचाया जा सके। यह सर्वविदित है कि उन्होंने स्वर्णपात्र को आत्म-सत्य का मुख ढकने की कभी आज्ञा नहीं दी। प्राप्ति के ऐसे पच्चीसों मौके आए हैं, जब उन्होंने उसे अस्वीकार किया है। यहां तक कि पिछले दिनों जब वे मस्तिष्क-स्खलन की व्याधि से ग्रस्त थे, शासन की ओर से सहायतार्थ 1000 रुपये की राशि भेजी गई थी। उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया था और इलाज की तमाम सुविधाओं को भी प्राप्त करने से इनकार कर दिया था। उनके अंतरग लोग जानते हैं कि उस समय वे आर्थिक अभाव के असह्य दौर से गुज़र रहे थे। इससे लगता है कि उनका स्वाभिमान ओढ़ा हुआ नहीं है; उनके व्यक्तित्व का अंग है। अन्यथा मस्तिष्क का नियंत्रण छूट जाने पर, अपनी हताश और असहाय हालत में किसे अपनी गरिमा और अभिमान का ख्याल रहता है? लेकिन गंगा में गिरे घायल चातक की तरह व्यासजी ने अपनी चोंच सदा 'पुण्य-जल' से ऊपर ही रखी है। जीवन भर उन्होंने अपने लिए दया और सहायता जैसे शब्दों से नफरत की है। लक्ष्मी उनके द्वार में सिर झुकाकर ही घुस सकी है। लगता है, चातक की यह टेक पंडित व्यास भी साधे हुए हैं—'नहिं जांचत, नहिं संग्रहों, सीस नाय नहि लेय।' लेकिन लक्ष्मी के मामले में जितनी 'अकड़' उनमें है, सरस्वती के मामले में वे उतने ही विनयी, सज्जन और निरभिमान हैं। पंडिताऊपन

की खोल से अपरिचित व्यासजी की सरलता और ख़ुशमिज़ाजी की अनेक मित्रों ने चर्चा की है। लेकिन अपने नियमों और बच्चों के लिए वे एक सख्त व्यक्ति हैं।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने, लगता है, काफी अनुभव के बाद ही यह लिखा है—

'श्री सूर्यनारायण व्यास ज्ञान और कर्म, अकड़ और नम्रता,
विद्वत्ता और साहित्यिकता का एक सलोना संगम हैं।'

इसलिए, जो संगम है—उसे संगम की ही तरह पहचाना जाना चाहिए, विरक्त धारा की तरह नहीं। अगर व्यासजी को पहचानना है तो हमें बहुत-सी बातों को एक जगह, एक साथ पहचानना होगा। मसलन, हमें कैसा लगेगा अगर हम देखें कि सरकार विरोधी गुप्त रेडियो-स्टेशन के पास ही सिंधिया नरेश का चित्र रखा है। पास ही विक्रम का पुरातात्त्विक पुतला, मालव प्रदेश की खोज के लिए फर्श पर बिछे ग्रंथ। कालिदास समारोह का दफ्तरी सामान, 'बोल्शेविक बनाम विश्व कुटुंब वाद' लेख, ज्योतिषाचार्य पं. नारायण व्यास का यज्ञोपवीत धारी चित्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, महात्मा गांधी की तस्वीर, प्रेम की एक कविता, चापलूसी पर एक व्यंग्य-लेख रखा है। स्वयं लेखक के दो चित्र टंगे हैं—एक पाश्चात्य वेश भूषा में और दूसरा विशुद्ध भारतीय वेश में है। हवेली का यह कमरा हजारों किताबों से लदा है, बेशकीमती फर्नीचर हैं। पचासों अभिनंदन पत्र लटक रहे हैं, तभी गृहस्वामी का पुत्र उधर से सहमा हुआ निकलता है—जिसका कुर्ता फटा है! मेरा ख्याल है कि आम आदमी की दहशत के लिए यह काफी बड़ा सामान है, लेकिन व्यक्तित्व खोजी के लिए एक दिलचस्प समारोह। यह उस आदमी की ज़िंदगी है, जो अपने ही इतिहास से आगे बढ़ गया है, लेकिन किसी भी पिछली याद से कटना नहीं चाहता। हर आरोप को उसने खुला टांग दिया है। यह उसकी बुनियादी ईमानदारी और निर्भयता का प्रमाण है। जाहिर है कि व्यक्ति कितने दौरों में से गुजरकर यहां आया है? कितने विरोध को उसने अपने व्यक्तित्व में साधा है? उसके जीवन में कितना फैलाव है? उसकी शान और उसके स्वाभिमान दोनों की रीढ़ सीधी है। वह खोजी विद्वान् है, इतिहास

प्रेमी है। किसी चीज को बिना तोड़े और नकारे हुए—वह अपने लिए राह बनाता है, शायद इसलिए वह किसी दिशा में हिमालय की ऊंचाई नहीं छूता, अलबत्ता विंध्याचल का विस्तार और गुरुता उसके व्यक्तित्व को परिभाषित कर सकती है, उसके जीवन की सिकुड़न और प्रशस्ति को, ऊंचाई-नीचाई को, और यहां तक कि अभिमान और नम्रता को भी। इसीलिए प सूर्यनारायण व्यास, अकेली शोध, अकेली पत्रकारिता, अकेले लोक-कल्याण-कर्म, अकेली क्रांति में हिस्सेदारी, अकेले साहित्य, अकेले मानवीय गुण और यहां तक कि सिर्फ ज्योतिष में भी भले ही शलाका पुरुष न हों, लेकिन समग्र रूप में वे एक दुर्लभ और विशिष्ट व्यक्ति हैं। समन्वित भारतीय संस्कृति के महिमामय प्रतीक।

लेखनी के आयाम

व्यासजी का सबसे महत्त्वपूर्ण लेखन इतिहास एवं पुरातत्त्व विषयक गवेषणाएं हैं। उन्होंने मुख्यतः मालव-प्रदेश, उज्जयिनी, विक्रम और कालिदास पर कार्य किया है। इसके अतिरिक्त उनका जितना अन्वेषण है—वह प्रायः इन्हीं से ही कहीं न कहीं संदर्भित है और कहीं न कहीं अपने मुख्य अनुसंधान को ही पुष्ट और प्रामाणिक बनाता है। उदाहरण के लिए कृत-संवत्, सातवाहन राजवंश, प्रद्योत राजवंश, भृगुकच्छ, गुणाढ्य, हाल इत्यादि से संबंधित खोजें और अध्ययन प्रकारांतर से उपर्युक्त मुख्य गवेषणा को ही—अधिक तर्क संगत बनाती हैं। एक तथ्य को पूरी तरह प्रमाणित करने के लिए अन्वेषक ने आगम, निगम, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य, कला, संस्कृति, पुरातत्व और यहां तक कि जनश्रुति के समस्त संभावित स्रोतों का भी उपयोग किया है। तथ्यों के तार्किक प्रतिपादन के साथ ही देशी-विदेशी विद्वानों की भ्रांत धारणाओं का तर्कसम्मत खंडन किया है। इस तरह अपने विषय पर अन्वेषक व्यासजी की पकड़ मजबूत और प्रामाणिक है।

अपने शोध-क्षेत्र का चयन उन्होंने केवल वस्तुगत दृष्टि से ही नहीं किया, उसके मूल में इस प्रदेश के प्रति उनकी गहरी रागात्मक भावना

रही है। इस बारे में लोगों की अलग-अलग राय हो सकती है लेकिन रागात्मकता या अंतः प्रेरणा से रहित वस्तुगत अनुसंधान या तो अत्यधिक यांत्रिक होता है या औपचारिक। विवेक से ही यह निर्णय लिया जा सकता है कि भावनात्मकता की सीमाएं क्या हैं? जहां तक व्यासजी का प्रश्न है उन्हें यह भावना इतिहास और संस्कृति में बहुत गहरे प्रवेश करने को प्रेरित करती रही है। इसके भीतर कहीं-न-कहीं उनका समकालीन सामाजिक पक्ष भी सम्पृक्त रहा है। वे इतिहास के उस अध्याय के संधाता हैं जो सुवर्णमय था। इसकी तुलना वे वर्तमान हालत से करते हैं। और इसी के सहारे इस दुर्दशा से उबरने का आवाहन भी।

व्यासजी केवल अन्वेषक ही नहीं हैं, साहित्यकार भी हैं, और उस जमाने के जिसमें भावुकता साहित्यकार का मुख्य लक्षण मानी जाती थी। लगता है कि वे शोध के कर्तव्य-दंड को साधे बलपूर्वक आगे बढ़ते रहे, लेकिन उनका मन चीनांशुक ध्वजा की तरह साहित्य की उल्टी दिशाओ मे ही फरफराता रहा। इसलिए न केवल उनकी शोध-भाषा वर्तुल और काव्यात्मक हो गयी, वरन् उनके निष्कर्षों पर भी भावनात्मकता कहीं-कही आग्रह जता बैठी। माना कि वे अपनी शोध-वस्तु, अर्थात् उज्जैन, मालवा, कालिदास, विक्रम आदि से भीतर से जुड़े हैं, लेकिन जब अनुसंधान के निष्कर्षों पर भावनात्मकता आग्रह की तरह हावी हो जाती है तो वैज्ञानिक अनुसंधान के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए विक्रम की अवस्थिति और 'काल' के विषय में जब उन्हें लगता है कि वे अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं तो वे जनश्रुति तक की दुहाई दे डालते है और आग्रह करते हैं कि भले ही 'आधुनिक माध्यमों के प्रमाण-पथ पर' विक्रम 'पूरी तरह न उतरें' लेकिन 'अंतःकरण की विश्वस्त भावना' और 'सस्कृति की परंपरा' के आधारों पर ही उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। वैसे मेरी विनम्र राय में पं. व्यास को ऐसे आग्रह की कतई जरूरत नही थी। शायद यह या ऐसी बातें उन्होंने भावनात्मक त्वरा में कह डाली है, क्योंकि अन्वेषक व्यासजी ने विक्रम की अवस्थिति और काल निर्णय के विषय में पूर्व और परवर्ती युगों के, राजवंशों के साहित्य, ज्योतिष, पुरातत्त्व

आदि के अनुसंधान द्वारा पर्याप्त प्रामाणिक स्थापनाएं की हैं, यहां तक कि अरब राष्ट्र (मक्का) से प्राप्त 'जरहम बिनतोई' की स्वर्ण-पत्र पर खुदी कविता और कालांतर में बर्नाला में प्राप्त मुद्रा भी उन्हीं की स्थापनाओं को प्रमाणित्न करती हैं।

फिर, समय के कुछ-कुछ अंतराल से व्यासजी अपनी नई शोधें या शोधों का पुनर्मूल्यांकन करते रहे हैं। इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं है कि शोध के संदर्भ में वे जनश्रुतियों या सांस्कृतिक परंपराओं पर सचमुच भरोसा करते हैं। एक ही तथ्य की इतनी तरह से परीक्षा की गई है कि यदि उसे क्रमबद्ध प्रस्तुत किया जा सके तो निश्चित रूप से न केवल सबद्ध तथ्य की प्रामाणिक पुष्टि हो सकेगी, वरन् उससे संबद्ध अनेक नवीन तथ्य भी अपने आप प्रकाशित होते चलेंगे। दुर्भाग्य से व्यासजी ने अपनी शोधों के व्यवस्थित प्रकाशन पर कभी ध्यान ही नहीं दिया। पंडितजी के शोध-निबंध और उनके छोटे-छोटे टुकड़े इतने बिखरे और बेतरतीब हैं कि उन्हें व्यवस्थित रूप से संपादित कर प्रकाश में लाए बिना उनके सही कार्य का मूल्यांकन करना कठिन है। 'मालव और अवन्तिका' तथा 'भारत का सांस्कृतिक अतीत और उसकी व्यापकता' जैसे शीर्षकों से कम-से-कम दो वृहदाकार ग्रंथ तुरंत प्रकाशित करने की आवश्यकता है। खेद है कि उन जैसे मालव के अग्रणी इतिहासकार और खोजी विद्वान् के विषय मे अनेकानेक प्रशस्ति लेख तो लिखे गए, लेकिन उनकी शोधों की सही संदर्भ मे परीक्षा नहीं की गई। वास्तव में उनके बारे में जो लिखा जाता है उसका स्वर 'हनुमान चालीसा' का न होकर विशुद्ध तथ्यात्मक विश्लेषण का होना चाहिए। सम्मान पत्रों और प्रमाण-पत्रों के कागजी पुल की अपेक्षा किसी विद्वान् तक पहुंचने के लिए उसके कर्तव्य और रचनाओं का सेतुबंध ही प्रामाणिक होता है। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि व्यासजी की शोधों में कितनी गहराई और विस्तार है? कितनी मौलिकता और अनुकरण है? कितनी तटस्थता और कितना मोह है? विद्वान् की सार्थकता है उसका सच्चा मूल्यांकन, न कि स्तुति-पाठ; भले ही मूल्यांकन उसे निरर्थक और गलत सिद्ध कर दे। गुजराती के कवि उमाशंकर जोशी की एक कविता

है, जिसमें एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में बैठा अनुसंधान कर्म पर विचार कर रहा है तभी उसकी आंखों में गैलीलियो का चित्र आ जाता है, जिसने दुनिया को गोल सिद्ध करने के लिए काफी यातनाएं सही हैं। वैज्ञानिक सवाल उठाता है कि मानलो कि दुनिया गोल न होकर चौकोर हो जाती, तो क्या वे यातनाएं व्यर्थ चली जातीं?

'स्मृति में आए वे महानुभाव
गैलीलियो, जिन्होंने हमारी पृथ्वी का
आकार गोल स्वयं मानकर
और अन्य को मनाने में, खूब सहन किया
और अगर कहीं पृथ्वी चोकौर होती
तो वे यातनाएं क्या व्यर्थ हो जातीं?'

प्रबुद्ध शोधी विद्वान का अनादर उसके तर्कों के खंडन में नहीं है, उसकी उपेक्षा और गलत मूल्यांकन में है। और सबसे बढ़कर बिना जाने हुए उसके स्तवन में है। इसलिए मालवे के इस समर्पित श्रेष्ठ इतिहासकार की शोधों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

ऐतिहासिक शोधों के अतिरिक्त व्यासजी ने कालिदास और अन्यान्य संस्कृत कवियों के साहित्य में कला, संस्कृति, समाज और सौंदर्य की पड़ताल की है। उनकी प्रतिभा मुख्यतः व्याख्या और विश्लेषण की नहीं है, तथ्यान्वेषण की है। इसी दृष्टि से उक्त कार्य किया गया है। महाकवि कालिदास पर उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, परंतु वह उनके अध्ययन के छोटे से भाग का ही प्रकाशन है। उनके 'साहित्यानुशील और अनुसंधान' पर भी एक ग्रंथ प्रकाशित किया जा सकता है।

ज्योतिष पर उन्होंने कम लिखा है, लेकिन जो लिखा है, उसका दृष्टिकोण ज्योतिष को भ्रांतियों और फलित आदि के सस्ते क्रिया-कलाप से निकालकर वैज्ञानिक स्वरूप देना है। इस ग्रंथ में गृहीत निबंध उसका एक उदाहरण मात्र है।

पंडितजी इस पीढ़ी के पितामह साहित्यकार हैं। यद्यपि उन्होंने अपना-लेखन भावुक तरुण की तरह कविता से ही प्रारंभ किया, लेकिन

धीरे-धीरे उनकी भावुकता, यात्रा-वर्णनों और ललित निबंधों में रूपायित हो गई। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से 'सागर-प्रवास' नाम से उनका यात्रा-वर्णनो का संकलन प्रकाशित हो चुका है। 1937 में लिखे इन वर्णनों का ऐतिहासिक महत्त्व है। उनकी भावपूर्ण कविताएं प्रायः हरिऔध, मुकुटधर, पांडे आर रामकुमार वर्मा की संधि-रेखा में कहीं खड़ी की जा सकती हैं। विषय प्राय प्रकृति, प्रेम करुणा या नैतिक भावना से संबद्ध है।

साहित्य के क्षेत्र में किसी विधा की अपेक्षा व्यासजी ने हास्य-व्यंग्य सबसे अधिक लिखे हैं। समकालीन विकृति पर उन्होंने मखौल भरे व्यंग्य यथासमय किए हैं। यद्यपि आज व्यंग्य की चुभन और आस्वाद बदल गया है, लेकिन यदि इन व्यंग्यों को अपने युग की कसौटी पर कसें तो वे एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी होंगे। क्योंकि उनके अतिरिक्त किसी हास्य व्यंग्यकार ने अपने लेखों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रयोग नहीं किया है। यह हिंदी व्यंग्य की दृष्टि से एक सार्थक प्रयोग है। व्यासजी के व्यंग्यों में चुभन कम और मखौल या उपहास ज्यादा है। लेकिन उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व के कारण उनमें कहीं फूहड़पन नहीं आया है, अलबत्ता एक अर्से तक उग्रजी से उनकी संगत रही है। उनके व्यंग्य लेखन के संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि यह उनका केंद्रीय लेखन नहीं है। यह भारी-भरकम शोध कार्य से राहत पाने का एक जरिया है। इसलिए इस पर पूरे साहित्यिक अस्त्र-शस्त्रों से कूद पड़ने की जरूरत नहीं है। इसी तरह उनकी पैरोडियों और हलकी-फुलकी रचनाओं के बारे में समझना चाहिए।

सैकड़ों की संख्या में लिखे सामयिक लेखों में पं. व्यास का राजनीतिक, सामाजिक और मानवीय पक्ष प्रकट होता है। देश-विदेश की समस्याओं से लेकर नगर और मुहल्ले की समस्याओं पर उन्होंने ईमानदारी और तन्मयता से लिखा है। यह प्रश्न उठाना उचित ही है और आवश्यक भी कि इन सामयिक लेखों में क्या है? वे किस हद तक समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं और किस हद तक अपने आग्रहों का? वे अपने जमाने को आगे

ले जाते हैं या पीछे? या कि उनका मानवीय हित, वैचारिक गांभीर्य तथा ओचित्य से कितना संबंध है? पं. व्यास के विचारों का उनसे आभास मिलता है। वे आरंभ में राजनीतिक और सामाजिक रूप से पीड़ित मानवता के साथ जुड़े हुए थे। कालांतर में उनकी दृष्टि सांस्कृतिक-राष्ट्रीय हो गई—इसलिए उनकी सम-सामयिक रचनाओं के शेड्स बदलते रहे हैं। लेकिन उनके इन लेखों पर वैयक्तिक स्वार्थ का आरोप नहीं लगाया जा सकेगा। उनकी दृष्टि आदर्शोन्मुख अतीत की आग्रही है, लेकिन अतीत से वे कल्याण मार्ग का चयन करते हैं, शोध, व्यंग्य, कविता और सामयिक लेखन में भाषा की नट-मुद्रा देखते ही बनती है। आखिर उनके जीवन की भी कम भूमिका नहीं रही है!

एक व्यक्ति अपने जीवन में इतना विविध लिखता है, इतना सोचता है, इतना कार्य करता है, और फिर भी इतनी निस्पृह तन्मयता से यह एक सुखद विस्मय ही है। अनवरत सारस्वत साधना और कर्मण्य जीवन की क्या इसके अतिरिक्त कोई और परिभाषा होती है?

—प्रभाकर श्रोत्रिय

हिंदी विभाग
हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल
26 7.72
(अनुष्टुप से)

तू-तू मैं-मैं या वाग्युद्ध-कला

ससार भर के इतिहास के पन्नों को उलट जाइए, आपको सभी जगह दिखाई पड़ेगा कि कोई भी जाति युद्ध से विमुख नहीं रही है। वेदो के "हरि ओम् शांतिः. शांतिः शांतिः" से आप यह न समझ लीजिए कि उस वक्त लड़ाई नहीं होती थी। या तो युद्ध के समय के ठंडे पानी के छीटे 'शांति' के रूप में बरसाए जाते रहे हों, या फिर ये मंत्र 'कैलॉगपैक्ट' की तरह होंगे, क्योंकि मंत्रों में 'शांति' की ध्वनि है और नज़दीक ही युद्ध का विवरण भी भरा पड़ा है।

आजकल 'शस्त्र संन्यास' परिषदें (राष्ट्रों की) होती ही हैं और प्रतिवर्ष जल, स्थल और आकाश-सेना की वृद्धि भी होती जाती है। इसी तरह वेदों के शांति-मंत्र भी समझ लीजिए, और गांधीजी के अहिंसा-मंत्र मे भी वही बात है कि "लड़िएगा, मगर शांति से!" क्या खूब! शांति और लड़ाई का कैसा बढ़िया रिश्ता है? संस्कृत के नीति-ग्रंथ में ठीक ही लिखा है कि "भक्ष्य भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम्"।

खैर, हम तो कह यह रहे हैं कि 'शांति शांति' की चिल्लाहट को आज तक किसी ने माना हो या न माना हो, परंतु लड़ाई हुई है, हो रही है और होती रहेगी। लड़ाई सर्वकाल में बाधित सिद्धांत है! फिर चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो? क्योंकि लड़ाई अनेक प्रकार से की जाती है। मेरे घर पर एक साहब रहते थे। उनका नाम रख दिया गया था—'कानूनी'। सच मानिए कि ये जब लड़ते थे, यों कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उचित होगा कि सुबह 5 बजे से रात को एक-एक बजे तक रोजाना अगर उनका कोई व्यवसाय था तो एक मात्र लड़ाई ही!

ये लड़ते तो थे, पर सारी सरपच्ची में कभी 'सत्य और नियम' से बाहर नहीं जाते थे, चाहे कैसे ही आवेश में क्यों न हों। हां, वे ठंडाई से—शांति से बोल नहीं सकते थे। खूब चिढ़-चिढ़कर बोलते थे, परंतु ठीक 'प्वाइंट' पर। बीच-बीच में वेदांत और बेचारी गीता की दुहाई दे-दे कर। ये महाशय लड़ाई 6 प्रकार की जानते थे, पर केवल मौखिक ही। 'डंडा-डंडी' तक इनकी पहुंच नहीं थी! वे स्वयं कह भी देते थे—

ज्ञानी के हम गुरु हैं, और अज्ञानी के दास।
उसने पकड़ी लाठी, और हमने जोड़े हाथ।।

हमारे यहां इनका नाम इसी वीरता के कारण 'पागल' रख दिया गया था, परंतु उसमें भी एक अवस्था थी—'कानूनी पागल'! कानूनी जी जब मज़े में होते, तो खुद अपनी कविता निम्नलिखित रूप में गा दिया करते थे—

"जननि भारत! आज हमको कानूनी पागल दिखा रही है।"

उन्हें अपने इस शुभ नामकरण पर नाज़ था! वे जिन 6 प्रकार के युद्धों का जिक्र करते थे उनमें से एक युद्ध 'वाग्युद्ध' भी है। जिसमें चाहे तीव्रता उत्पन्न हो जाए तो आगे चलकर भले ही 'डंडा-डंडी' के श्रेणी में पहुंचना पड़े, परंतु प्रथम तो दांतों की शिला पर रगड़ खाकर सिर्फ ज़बान ही वह पैनी छुरी की तरह लपलपाती हुई, युद्धावसर में जौहर दिखलाती है कि बस!

वाग्युद्ध की रीति आजकल की नई नहीं है। इस युद्ध का आरंभ ठीक युग के आरंभ से हुआ है। शस्त्रों का ज्ञान भी मानव-जाति को जिस समय नहीं था, तब से इस सहजात-जिह्वा का उपयोग दुनियादारी में होता रहा है। मेरा मत तो यही है कि वाग्युद्ध का आरंभ मानव जन्म के आरंभ के ही साथ-साथ है। और-और युद्ध तो विकासवाद के सिद्धांतानुसार पीछे आवश्यकता का अनुभव करने पर बने होंगे। वाग्युद्ध की लोकप्रियता आज भी आरंभ से लेकर अधिकाधिक बनी हुई है। यह युद्ध सामुदायिक रूप में उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना 'द्वंद्व' में 'मौलिकता' प्रकट कर सकता है। केवल पैनी जीभ का ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा

इस द्वंद्व में है, इसमें शारीरिक और शस्त्र-बल की जरूरत नहीं होती। जीभ के प्रयोग के प्रसंग पर ताल और 'स्वर'-भंग न हो, बस इसीलिए हाथ का घुमाव, फिराव, और मुंह के भाव-परिवर्तन की आवश्यकता है। और इन सह-वर्णों से इस युद्ध में बराबर जोश पैदा होता जाता है।

इसकी सुविधा को भी देखिए। इसमें आपको खास समर की योजना करने की जरूरत नहीं होगी। कुरुक्षेत्र में जाने की गर्ज नहीं,. चाहे आप सकरी गली में खड़े हो जाइए, घर के आंगन में आ डटिए, अथवा घर की खिड़की या खपरैल पर चढ़ बैठिए—और शुरू कर दीजिए! प्रतिस्पर्धी 50 फुट की दूरी पर क्यों न खड़ा हो, आपका आक्रमण कभी खाली न जाएगा। बराबर वार-पर-वार कीजिएगा, सीधे मर्म में घाव करते जाएंगे। इतना ही नहीं, आप एक शत्रु पर वार कर रहे हों और आपके जी में आ जाय कि शत्रु के परिवार पर भी वार हो। बस अपना रुख मोड़िए-सीधा असर होगा। उन लोगों के कानों में ध्वनि जाने दीजिए कि 'घाव करे गंभीर' ही समझिए। वे पारिवारिक जन भी तड़पने लग जाएंगे। यही वाग्युद्ध का प्रभाव है! घर का काम करते-करते भी यह युद्ध सहज हो सकता है. फिर न तो उम्र की कैद है, न स्त्री-पुरुष के साहस की। यह युद्ध नपुंसकों द्वारा भी तीस-मार खां की तरह किया जा सकता है।

वाग्युद्ध के दो भेद किए जा सकते हैं—एक वाजबी, और दूसरा गैर-वाजबी। दोनों ही लोगों के जाने-माने हुए हैं।

अदालतों में वकीलों की बहस-रूपी गर्जन, शास्त्रार्थों में पंडितों का गर्जन-तर्जन, और सर्राफों में बनियों की खरीद-फरोख्त संबंधी तू-तू मैं-मैं, अपने माल की उत्तमता के लिए दलीलें, ये सभी 'वाजवी' विभाग मे शामिल हैं।

और दूसरे गैर-वाजबी युद्ध को हमने 'गैर-वाजबी' इसलिए बतलाया है कि वह किस वक्त, किस प्रकार से आरंभ किया जाएगा इसका कोई नियम नहीं। पड़ोसी का बच्चा सहज आपके दरवाजे के सामने आकर मूत गया हो; खाने के जगह बैठे हैं, ज़रा नमक ज्यादा रख दिया गया हो; पड़ोस वाले ने कुत्ते को दुतकारा हो, और वह

आपके दरवाजे में घुस आया हो; दूसरे पड़ोसी के लड़के ने जरा जोर से 'पी-पी' बजा दी हो। अथवा आप किसी मकान पर गए हों, वहा आपका मित्र या रिश्तेदार किसी दूसरे से 'प्राइवेट' बातों में मशगूल हो, आपको ज़रा देर बैठना पड़े—ये सब कार्य गैर-वाजबी युद्ध की शुरूआत कर सकते हैं। इस प्रकार के युद्ध के महारथी इन्हीं बातो से युद्धारंभ कर देते हैं। अपनी इकलौती 'जीभ' के आधार पर कई अक्षौहिणी का बल उनमें संचार करने लग जाता है। इस युद्ध के समय यदि इन वाग्वीरों के आप प्रत्यक्ष दर्शन कीजिएगा तो आपको मालूम होगा कि ये शायद इक्कीस बार निःक्षत्र पृथ्वी कर देने वाले परशुराम हैं, या सप्त-चक्रव्यूह भेदन करने वाले अभिमन्यु हैं, अथवा चंड-मुंड विनाश करनेवाली कोई चामुंडा हैं!

ऐसे महापुरुषों के पड़ोस में रहने का सौभाग्य भी उन्हें ही मिलता है, जिनकी 71 पीढ़ी का पुण्य प्रबल हो।

'तू-तू',—मैं-मैं'—उर्फ वाग्युद्ध इस आदम जात ही में होता हो—सो नहीं, पशु-पक्षियों में भी इसका आदरयुक्त स्थान है।

कुत्तों और गधों में यह युद्ध—साहित्य. कविता. और संगीत के साथ स्वीकार किया गया है। संगीत भी वह जो 'ताल' और 'सुर' से खाली नही। मनुष्य का ताल-स्वर सहित संगीत, यदि कर्ण कुहर में प्रवेश कर जाता है—तो निद्रादेवी की गोद में थपकियां देकर सुला देता है। इसके ठीक विपरीत शांत-नीरव-रजनी में दो कुक्कुर-कुल-कमल-दिवाकर, श्वान-शिरोभूषण—कालू खां (काला कुत्ता), भूरा खां (भूरा कुत्ता), जिस समय एक छोर का संगीत सुनकर, दूसरे छोर से अपनी तान छेड़ देते हैं तो वह मजा आ जाता है कि, सोया हुआ मनुष्य-प्राणी आधी रात में भी बिस्तरे पर से उठ बैठता है और मस्त हो सिर धुनने लग जाता है! इसी तरह 'यथा नाम-गुण' गर्दभाधिराज का पंचम-स्वर भी 'मादक' निद्रा से झिंझोड़कर तन्मयता में जागृत कर देगा। यह उस 'गान' की—स्वर-लहरी की ही विशेषता है, वर्ना किसी राहगीर के भोंडे गान को फूटे कान, और फूटी आखों से भी कौन सुनना—देखना पसंद करेगा?

पुरान साहित्य-सिद्धात-निमाताओ न ''साहित्य-सगीत-कला-विहानः'' (साहित्य और संगीत-कला से हीन) मनुष्य को ''साक्षात्पशुः पुच्छ विपाणहीनः'' (बिना पूंछ-सींग का पशु) बतलाया है। परंतु यह कितनी असत्य, और आंखों में धूल झोंकने वाली बात है? देखिए, 'साक्षात्पशु' और वह भी दुमदार, साहित्य में संगीत का ताल-स्वर सहित उपयोग करना जानते हैं। फिर क्या वजह है, ऐसी झूठी बातों को माना जाए? जनाब! आज तो 'विज्ञान' का युग है। सत्य की कसौटी पर जो बात 'सौ टंच' उतरेगी वही मानी जाएगी। अब 'बाबाजी के वाक्य को'' मानने का जमाना बीत गया! अब तो यह परिवर्तन करना ही पड़ेगा कि—''साहित्य-संगीत-कला समेतः साक्षात्पशुः पुच्छविपाणयुक्तः।'' इसके मानी हुए 'साहित्य-संगीत-कला जिसमें मौजूद है, वह पूंछ और सींग वाला 'पशु' ही है!

हां—साहब, जिस समय सामुदायिक रूप से कुत्ते का कुतिया से युद्ध छिड जाता है तब कई वीर ग्राम-सिंहों का खून खौलने लग जाता है, तुरत वे 'मैदाने-जंग' में आ कूदते हैं, फिर वह डंटकर लड़ाई छिड़ती हे कि क्या मजाल, कोई 'लायड जॉर्ज' जैसा बुद्धिशाली प्राणी भी संधि कराने का माद्दा रख सके!

गंभीर गवेषणा करने पर मालूम हुआ है कि पुरुषों की अपेक्षा फूल-जैसी नरम, कोमलांगियां (दुबली, पतली स्त्रियां) इस 'तू-तू' 'मैं-मैं' के युद्ध में वड़ी नामवरी पा चुकी हैं। इस युद्ध में विजय पाना उनके बाएं हाथ का खेल है। रात-दिन घर के धंधे में लगी रहने पर मुंह-मुंह या पड़ोसी के साथ अनेक प्रसंगों पर इस युद्ध की कला सीखने का उन्हें सहज अवसर मिल जाता है। 'ट्रेनिंगक्लास' 'ज्वाइन' करने के लिए कही बाहर जाने की जरूरत नहीं होती। कई महिलाएं तो इस युद्ध में बहुत अधिक प्रवीण-पारंगत और शहर भर में प्रसिद्धि पाई हुई होती हैं। आश्चर्य हे कि ऐसी स्त्रियों की तलाश कर प्रांतीय-गवर्नर, क्यों नहीं सम्राट् की सरकार से सिफारिश करते कि साल-मुबारिक के दिन इन्हें भी चुन-चुनकर 'कलहकालिका' आदि पदवी (खिताब) दी जाए। जिस मुहल्ले में ऐसी
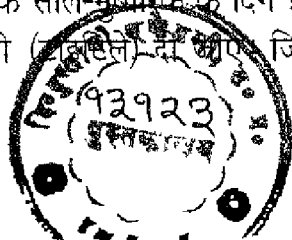
देवी रहती है, उस मुहल्ले के लोग उसका अदब रखते हैं। हर एक की हिम्मत नहीं कि अपने 'छोटे मुंह' इन श्रीमतियों से बोले। मूर्ख लोग इस अदब के ढंग को कह देते हैं–''कीचड़ में पत्थर फेंकना!''

ऐसे कुछ नजारे (दृश्य) देखने के बाद आपके दिल में यह ख़याल पैदा होगा कि 'जीभ में इतनी कड़ाई (कर्कशता) होते हुए भी स्त्रियों को 'कोमलांगी' क्यों कहा जाता है? परंतु यह शंका व्यर्थ है। यहां 'अपवाद नियम' लागू होता है। उसका सारा शरीर कोमल है, पर 'जीभ' में सिर्फ 'कड़ाई' है, अतः शरीर में 'जीभ' कड़ी अपवाद है।

इस युद्ध में भी महारथी होते हैं, जिन्हें इंग्लिश भाषा में 'चैम्पियन' कहा जाता है। हिंदू-कुटुंब में–'छोटी ननद' या 'सासू' इस लड़ाई के मैदान में 'लीडर' ही रहती, और मानी जाती हैं। 'बहू'-रूपी दुश्मन पर हमला करना हो तो, सासू-सम्राट् अपनी लड़की को सेनापति पद पर बैठा देती है। यह लड़ाई जीतने का एक पैंतरा है।

इस तरह अंदर-ही-अंदर बहू (रूपी) शत्रु पर विजय प्राप्त करके भी सासू-ननद अपने लड़के या भाई को वीर गानों से यानी तीखे शब्द-बाणों से, ताने लगाकर, चुभोकर उस बहू-शत्रु की सर्वदा के लिए ताकत तोड़ने की कोशिश करती हैं। इसके परिणाम-स्वरूप कितनी ही सासू-ननद की दुश्मन-देवियां हार खाकर, विष या वरुण (पानी) देव की गोद में सो जाती हैं–सदा के लिए अपने शत्रु की आत्मा ठंडी कर देती हैं।

नगर के बाहर पनघट पर यदि यह युद्ध-प्रकरण शुरू हो गया हो तो राहगीरों का दिल दो मिनट ठहर जाने को चाहेगा। हाथ गीले कपड़े हों, कछौट लगी हो, पहना हुआ कपड़ा अधगीला और कहीं से खिसक चला हो, सिर की लटें (केश-कलाप) बिखरकर चंडी की नकल बना रही हों, इस प्रकार युद्ध करती हुई दो देवियां, एक दूसरी पर जब जबान से गोले बरसा रही हों तब क्या कहना है! दृष्टा महाशयों को अपना जीवन धन्य मानना चाहिए।

संकरी गली, या बाड़े के अंदर जब ऐसे युद्ध की रचना होती है तब जनता का समूह-का-समूह जुड़ जाता है! ऐसे समय एक-एक के

पक्ष के मददगार (समर्थक) ऐसा प्रोत्साहन देते जाते हैं कि जैसे दोनों ही 'धर्म और नीति' के अनुकूल हों। कभी-कभी तो राह चलते अनजान व्यक्ति से 'लड़वैया' पूछ बैठता है कि "क्यों साहब! ठीक है न?" यदि 'हां' में जवाब मिला तो शत्रु-पक्ष पर दुगनी ताकत लग जाती है। और तक़दीर से कहीं नासमझी (?) से ज़रा सिर हिल गया तो समझ लीजिए—फिर वह रण-क्षेत्र भयंकर गर्जना के 'हुंकारों' से भर जाता है। उस दर्शक की भी वह दुरुस्ती होता है कि उसके सात पुरुखों ने कभी न देखी हो! फिर वह पूरा-पूरा धर्म और न्याय-युद्ध ही बन जाता है।

युद्ध के खात्मे पर दोनों तरफ के 'वीर'—और खासकर पराजित 'मै जीत गया हूं'—यह बतलाने के लिए अपने मिलने-जुलने वालों के सामने, अपनी सचाई दलीलें, समझदारी, दूरंदेशी, 'सामने वाला मुझसे कैसा दबा!' और मेरे चक्कर में फंसा नहीं, नहीं तो मैं यों करता, और त्यों करता' इत्यादि बातें ऐसे बढ़िया ढंग से बनाता है कि वाह! हालांकि सचमुच हारा कौन, और जीता कौन, यह सब कोई मन में जान जाते हैं।

इस लड़ाई को पुरुष भी लड़ सकते हैं, लड़ते भी हैं; पर वह मजा चतुराई में नहीं, जो स्त्री स्त्री की लड़ाई में है। पंच-पंचायतों के समय या ऐसे ही सु (!) प्रसंगों पर मामला छिड़ बैठता है! और वह बढ़कर 'केशा-केशी' और 'डंडा-डंडी' आदि शास्त्रोक्त युद्ध की शक्ल पकड़ लेता है। मित्रों को इसमें भाग नहीं लेना चाहिए, वरना बुरा परिणाम होता है। और इसी तरह स्त्री को पति के साथ इस युद्ध को नहीं खेलना चाहिए, नहीं तो नतीजे में 'पत्र-पुष्प' दक्षिणा मिल जाती है।

'ज़बानी जमा खर्च' के इस महायुद्ध में दलीलों का उपयोग बिलकुल थोड़ा होता है—इस कारण थोड़ी अक्ल के लोग इसमें जिस प्रकार जोश से मुकाबिला कर सकते हैं उस प्रकार पढ़े-लिखे समझदार लोग हर्गिज नहीं कर सकते। यह युद्ध इतना सर्वव्यापी, लोक-प्रिय, और सार्वजनिक है कि इसका किसी भी काल में, किसी भी देश में अस्तित्व न रहा हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसकी लोकप्रियता युग-युगांतरों की पुरानी

है। इसे अनंत, अनादि, अक्षय आदि सहस्त्रशः उपाधियां दी जा सकती है।

सीता, द्रौपदी, दमयंती, राम, कृष्ण या अर्जुन इस युद्ध में कभी मुकाबिला कर सके थे या नहीं—इस बात को जानने के लिए हमारे सामने ठीक-ठीक साधन नहीं हैं, परंतु यह लड़ाई उन्होंने न लड़ी हो यह कहना मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। स्वयं भगवान राम की माता कैकेयी तो इस युद्ध-कला में बड़ी काबलियत रखती थीं। वे खास 'कलह-कालिका' ही थीं। उन्होंने इसी युद्ध द्वारा दशरथ पर महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी। आज हम जो 'रामायण' जैसी वस्तु को हजारों वर्षों के बाद भी देख रहे हैं, इसका श्रेय उन्हीं देवी कैकेयी जी को है! इससे इतना तो जरूर सिद्ध हो जाता है कि महापुरुष भी इसमें 'इंटरेस्ट' लेते ही थे।

इस युद्ध के बड़े-बड़े फायदे हैं, जैसे जीभ को व्यायाम का काम मिल जाता है, सभी लोग ऐसे 'लड़वैया' को दूर से ही सादर नमस्कार कर लेते हैं। गली में, मुहल्ले में, जाति में प्रसिद्धि हो जाती है। स्त्री हो तो उसका पति अधीन रहता है। कितनी ही सासू-ननदें, बहुओं का 'नामोनिशां' मिटा सकती हैं इत्यादि।

हम इस विषय में शीघ्र ही असंबली में बिल या गड्डा ऐसा पेश करने वाले हैं कि सरकार, दौलत-मदार, अपनी वफादार, रियाया के लिए मिलिट्रीट्रेनिंग (सैनिक शिक्षा) के साथ-ही-साथ इस वाग्युद्ध (तू-तू मैं-मैं) के लिए भी उचित व्यवस्था करे। कॉलेज और स्कूल के लड़के-लड़कियों को यह शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए। अभी समय है, पछताना न पड़े, इसलिए तुरंत ही इस युद्ध के वीर पुरुषों और स्त्रियों को ढूंढ़कर पढ़ाई का काम शुरू कर दिया जाए। हम पार्लियामेंट के प्रभावशाली सदस्यों से गुज़ारिश करते हैं कि ये जोर देकर मिस्टर चर्चिल साहब की प्रमुखता में एक कमीशन नियुक्त कर दें, हिंदुस्तान के शासन-सुधार में जब यह प्रश्न हल न होगा, गोलमेज़ के निर्णयों को, इस युद्ध में प्रवीण समाज तब-तक मानने के लिए कायल न होगा—यह खुला चैलेंज है!!!

चाय का ऐतिहासिक अन्वेषण

आप अखिल-विश्व में भ्रमण कर आइए, पर जहां आपकी 'चाह' नही, वहां आपका 'जी' ठहरने को नहीं चाहेगा! किसी को किसी की 'चाह' है, और किसी को 'किसी की'। मगर 'चाह' है जरूर!

आज ही नहीं, संसार के आरंभ ही से 'चाह' से खाली कोई प्राणी नहीं रहा है? किसी की चाह उत्साह प्रेरणा पाकर बढ़ती गई है, तो किसी की निराश होकर घटती गई। यदि बढ़ी हो तो समझ लीजिए कि 10-15 प्यालों पर जा पहुंची होगी; और घटने पर प्रातः सायं दो बार तक ही सीमित रही होगी! बिलकुल तलाक़ तो किसी अभागे प्राणी ने ही दिया होगा।

पुराने खयाल के लोग, 10वीं शताब्दी में पैदा होकर अभी 20वीं शताब्दी तक 'जीने' का भार वहन कर रहे हैं, उनमें से कुछ तो 'चाय' से चौंक पड़ते हैं, और कुछ लोग कप-बशी जैसे अपुनीत पात्र से ग्रहण नहीं करते, पी ज़रूर लेते हैं! वे कप और बशी की महिमा से परिचित नहीं हैं, वर्ना इन पवित्र पात्रों के लिए अपने ख़याल बिगड़ने न देते। उन्हें शास्त्र-ग्रंथों का पता ही नहीं हुआ मालूम होता है! सादियों से पुरखो की परंपरा के कायल होकर आचमनी और पात्र द्वारा संध्या-समय तीन बार जलपान करते समय महज़ रस्म अदा कर देते हैं; परंतु इस प्रथा की उत्पत्ति क्यों हुई?—इन्होंने विचार नहीं किया। करते भी कैसे? इनके पथ मे किसी पुरानी बात की टीका करना अधर्म है, नाजायज है। अतएव कप-बशी से ये चौंक जाते हैं। दरअसल में यह 'आचमनी' और 'प्याला' 'चम्मच' और 'कप' तथा 'तरभाना' बशी का स्मारक है। इंस साहित्य

का रिश्ता 'चाय' से ही है, इसमें संशय का लेशमात्र अवसर नहीं ह। क्योंकि 'संध्या' के जरूरी, और दर्जे-अव्वल के मंत्र में भी 'पवित्रं कुरु चाशनम्'—पवित्रता के लिए 'चा' का अशन यानि 'प्राशन' बिला नागा तीनों संध्या के समय लाजिमी तौर पर कहा गया है। मंत्र में भ्रम-करने की गुंजाइश नहीं है।

पुराने आचार्य लोग जो इन मंत्रों के निर्माता हैं, वे जंगली-जीवन बिताते थे, वल्कल वगैरह धारण करते थे, इस कारण हवा पानी से बचाव करने के लिए वे जरूर 'चाय' पान करते रहे होंगे। यह मंत्र उसी के सुबूत में है। संस्कृत में शायद इसे 'उषःपान' कहते हों, क्योंकि उषःकाल में पीने की वस्तु तो 'चाय' ही है, जिसे 'बेड-टी' कहा जाता है। अस्तु।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र-आनंदकंद ने भागवत्गीता जैसे पवित्र ग्रंथ मे घोषणा की है कि—"सर्वस्य चायं दृष्टि सन्निविष्टः" अर्थात् सभी के हृदय में 'चाय' रूप से मैं (भगवान्) प्रविष्ट हूं। देखिए भगवान् तक की मुहर से साबित 'सनद' के रूप में यह 'चाय' प्राणियों को अता की गई है। 'चाय' के पीने वालों के लिए भगवान् ने कहा है कि—"वेदांतविद् वेदविदेव चायं" चाय का पीने वाला वेदांत-वेत्ता होकर वेद का जानकार भी होता है। लीजिए, भला, भगवान् के वाक्यों पर तन-मन न्यौछावर कर देने वाले हम सनातनी इस बात को कैसे गलत मान सकते हैं?

देवी-उपासकों को शायद ही पता हो कि उनकी देवियों में भी एक देवीजी 'चाय' पान करती थीं। देवी-भक्तों का 'सप्तशती' नामक ग्रंथ बड़ा प्रामाणिक और प्रसिद्ध है। उसी के एक मंत्र को हम बतौर 'कलकत्ता-एक्ट' के (चूंकि काली जी वहां हैं), और बमूजिब हिंदू लॉ के सुबूत में पेश करना चाहते हैं,वह मंत्र यह है—"शंखिनी चा-पिनी बाणा भुशुंडी परिघा युधा" अगर आप इस साफ-साफ मतलब वाले, मंत्र के चा-पिनी, (चा-पीने वाली) शब्द के भाव न समझ सकें? न रहे बेचारे वे ब्राह्मण-सम्मेलन और वर्णाश्रम-संघ के विधाता, वर्ना आप उनसे बाजाप्ता दर्याफ्त कर सकते थे। 'सांच को-आंच नहीं'। इतिहास और शास्त्र के सत्य को, वह भी मय सुबूत के, पाकर कौन ऐसा है जो ग़लत बतलाने

का साहस कर सकेगा। ऐसे अनेक वाक्य-प्रमाण शास्त्रों में भरे पड़े हैं, हम आंखों से देखकर भी अंधे बने हुए हैं?

शास्त्रों की बातों को हम अब तक रूपक, या गल्पें (गप्पे), पुराण की कथाएं मानते आ रहे हैं। भला हो उन बेचारे ब्रिटिशाचार्यों का जिन्होंने हमारे रामजी के बैठने 'पुष्पक-विमान' नामक गप्प को सचाई की कसौटी पर चढ़ाकर आज सहस्रावधि 'एरोप्लेन' के रूप में दुनिया के बाजार मे प्रत्यक्ष लाकर रख दिया है। जब एरोप्लेन उड़ने लगे तो हमारी भी आंखे खुलीं। हां भाई, वेद में एरोप्लेन है वेद में आगपेटी है, वेद में चर्खा है, वेद में रेल है, इत्यादि सभी सच मालूम होने लगा। ऐसा ही मामला इस बेचारी 'चाय' का है। कोई वस्तु वेद-पुराण से बाहर की नहीं है, सारी सृष्टि-खुदाई इसी में छिपी हुई है। जिस भगवान् का कहीं पता ठिकाना नहीं है, जिसके लिए वेद-शास्त्र 'नेति-नेति' कह रहा है, उस भगवान् की तलाश में तो जर्रा-जर्रा देखा जा रहा है, उसकी धुन में कई भलेमानस, लैला-मजनू की तरह पागल बने घूम रहे हैं, और जिस चीज को आचार्यों ने संध्या के वक्त पीने की आज्ञा की हो, जिसकी तारीफ में भगवान् की गीता-जैसी पवित्र पुस्तक भरी पड़ी हो, और जिसे पीने वाली एक देवी भी मौजूद हो, उसे हमारे सामने, आंखों से देखते हुए भी ओझल कर रहे हैं, उसका अपमान कर रहे हैं! वैज्ञानिक दृष्टि बिंदु से जो लोग सब वस्तुओं का निरीक्षण करते हैं उनके सामने और इस समस्त वैज्ञानिक संसार के सामने हम अपनी संस्कृति कब तक इस तरह टिकाए रख सकेंगे?

कुछ लोग ईर्ष्यालु होते हैं, वे चिढ़ जाते हैं तो अपने आपको बड़े 'भोले-भाले' और दूसरों को 'चालाक' कहते हैं, परंतु इसमें भी रहस्य निहित है। 'चालाक' अर्थात् 'चाय' पर 'लॉक' यानी 'ताला'! जिन लोगों ने दूसरों को बिखरने से, बिगाड़ने से रोककर 'चाय' पर 'ताला' लगा दिया था, आज इस जमाने में उस शब्द को मनुष्य के साथ ही जोड़ दिया है। आदमी ही 'चालाक' बन गया है, वास्तव में अपभ्रंश 'शब्द' है। यह नाम जेलसी—ईर्ष्या से भरा हुआ है। वे ही लोग, जिन्हें चाय नसीब न हो सकी, नास्तिक बन गए हैं और 'चाय' को अंग्रेज़ी वस्तु कहने लग

गए हैं! साहित्य के जाने और माने हुए विद्वान् बेचारे पद्मसिंह शर्मा ही, जो आज दुनिया से चले गए हैं, एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने कसौटी पर चढ़ा-चढ़ाकर शास्त्रों का मर्म समझने का तुलनात्मक प्रयत्न किया था और तभी तो वे चाय की आराधना में कभी गफ़लत नहीं करते थे। हमने उन्हें जिस समय भगवद्गीता, सप्तराशि तथा संध्याकर्म का मर्म बतलाया तो उनकी ज़बान से बरबस निकल गया कि—"हां-भाई, इस हद तक तो मेरी भी निगाह नहीं पहुंची!" वे थे साहित्यक, उन्होंने रिसर्च की दृष्टि से इन ग्रंथों को नहीं देखा था।

अगर 'चाय' के लिए पुराने लोग, जो संस्कृत के लिखे हुए हर किसी श्लोक को प्रमाण मान लेते हैं, सुबूत पर अड़े हों तो हजारों ही नहीं, अगणित प्रमाण उन्हें बतलाए जा सकते हैं। यहां हम सिर्फ एक, अद्भुत-अपूर्व किंतु बड़े-से-बड़े प्रमाण उदाहरण के लिए पेश करते हैं।

अभी कुछ समय की बात है, हमें अपने 5 हज़ार साल पुराने निजी सग्रह में से 10 लाख वर्ष पूर्व पैदा हुए पं. निखट्टू मिश्र के साले के ससुर की खुदवाई हुई एक पुस्तक, जमीन के अतल-वितल-सुतल-तलातल नाम के भूस्तर से प्राप्त हुई है। वह पुस्तक 'चाय' की प्रशंसा पर महाकाव्य के रूप में लिखी गई है। यहां स्थल और सुविधा के विचार से हम कुछ श्लोक नमूने के तौर पर पाठकों के स्वाद के लिए उपस्थित करते हैं। इन श्लोकों को सुनकर आप ठीक चाय के निकट का रस आस्वादन कर सकेंगे।

इस ग्रंथ-शैल-शिला में सर्व प्रथम चाय के प्रातःस्मरण का एक श्लोक है—

"प्रातः स्मरेद्यदि चहां तु सशर्कराढ्याम्
क्षीरोदकेन सहितां पुरुषो नितान्तम्।
आलस्य रोग-रहितः सहितस्सुहृद्भि—
र्जीयाच्छतं हि शरदां ब्रिटिशो ह्यवादीत्।।"

वाह! वाह!! वाह!!! क्या ही महत्त्वपूर्ण एवं उत्कृष्टतम रचना है। आखिर महाकाव्य ही तो है न!

इसका भाव यह है कि "प्रातःकाल यदि कोई शक्कर, दूध और पानी के साथ चाय का स्मरण (सेवन) करे तो वह आलस्य आदि के रोग से रहित होकर मित्रों के साथ चाय पान करके सौ साल पर्यंत जीवित रहेगा—यह 100008 श्री भगवान् के सगे लड़के ब्रिटिशाचार्य का कथन है।"

यह श्लोक क्या छंद और क्या अलंकार सभी दृष्टि से उत्तमोत्तम है। (इसमें पीने का छंद है, 'केटली' अलंकार है। आंग्ल रीति और 'एटीकेट' नीति है—इति लालचंद्रिका).

चाय पान से जिन शारीरिक दोषों का दूरीकरण होता है, उनका शिला खोदकार ने उल्लेख किया है—

चाहा पानान्मनुष्याणां क्षुधा-निद्रा-विनाशनम्।

अर्थात् 'चाय' पान से मनुष्यों की क्षुधा-भूख और निद्रा का नाश हो जाता है। यही दो दोष मनुष्य में हैं, जिनके कारण वह खराबी के फेर में पड़ गया है। पेट ही पाप करवाता है, यदि भूख का नाश हो गया, तो पेट की फिक्र ही छूट जाएगी; और आलस्य सारी बुराई की जड़ है—इसलिए इस पवित्र नरतनु से ये दोनों ही दोष छूट जाएंगे। पेट की चिंता से मुक्त हो एवं निद्रा के झंझट से छुटकारा पाकर 28 घंटा बराबर काम करना सहज हो जाएगा, सभी कर्मण्य बन जाएंगे। तब भगवान का यह सिद्धांत सत्य साबित हो जाएगा कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते,
मा—फलेषु कदाचन!

उपर्युक्त शिला-खुदित ग्रंथ में 'चाय' पान दो प्रकार बतलाए है—

चहा पानं द्विधा प्रोक्तं
शर्करा वियुतं-युतम्।
वियुतं शति दीशार्थम्,
सहितं मल-वर्धनम्!!

यानी—चाय-पान दो प्रकार से बतलाया गया है। शक्कर से रहित चाय-पान पश्चिम-देश-वासियों के लिए उष्णता बढ़ाने के लिए है, और भारतीयों के लिए शक्कर चाय सहित पीना 'रेचक' है।

उष्णं आंग्लं भवेत्पेयम्

मंदोष्णं भारते प्रियम्।

अप्टूडेटं भवेत्पूर्वम्

कॅप पेयं सु-मंगलम्!!

सारांश यह है कि—आंग्ल-देश-वासियों के लिए अत्यंत उष्ण चाय-पान करना उचित है, भारतीयों के लिए जरा कम गरम हो, परंतु इसमें पहला प्रकार 'अप्टूडेट' है, और वह मंगल-कामना करने वाले के लिए कप द्वारा ही लेना उचित होता है।

पीने के समयादि के विषय में महर्षि लिप्टनाचार्य का भी अभिप्राय यह है कि—

अरुणोदय बेलायां

चहा-पानं समाचरेत्।

रक्षणीया तु 'ट्रे' मध्ये,

चंचु युक्तं स-धूम्रकम्।

अरुणोदय के समय 'ट्रे' नामक पवित्र पात्र में रखकर चम्मच के साथ धूम्र के मेघ उड़ाती हुई चाय पीना चाहिए।

इस प्रकार 'चाय' के संपूर्ण अंग-प्रत्यंगों के गुण-दोष-विवेचन, सेवाविधान, समय, अवसर, एटीकेट आदि का विवरण इस ग्रंथ में विस्तार के साथ बाल की खाल निकालकर लिख बतलाया गया है।

अभी यह ग्रंथ अप्रकाशित ही है, काशी के महाकवि चच्चा ने इस ग्रंथ-शिला को एक बार देखने की इच्छा भी प्रकट की थी। परंतु उनकी आंखें पथरा जातीं, और कोई काम करने योग्य वे न रह जाते, अत. हिंदी-हित की दृष्टि से हमने उन्हें इस ग्रंथ रत्न (पत्थर) को दिखलाने से इनकार कर दिया। यह ग्रंथ व्यासाश्रम के 'अर्के-ऑलोजिकल' डिपॉर्टमेंट में सर्वथा सुरक्षित है। आश्रम का रिसर्च विभाग अभी संशोधन कर रहा है। बड़े-बड़े रहस्योद्घाटन के साथ संसार में भीषण उथल-पुथल मच जाने की भयंकर संभावना पूर्ण आशा है!

मेरी साहित्यिक यात्रा

मेरे प्यार की पुतली बीवी मुझसे इतनी मुहब्बत करती है कि मैं क्या अर्ज करूं? कहने के लिए बहुत कुछ कह सकता हूं, मगर शब्दों में उतना प्यार भरा हुआ न होगा। मतलब यह है कि जनाब, यह कलयुग है, ऐसी बीवी मिलना कम नसीब की बात नहीं है। वैसे दुनियाभर में सभी 'बीवी के बाबू' हैं, मगर इंजानिब की बीवी? बस, बीवी ही है—न इससे कम, न इससे ज्यादा! मैं अपने को बड़ा खुशनसीब समझता हूं, उस पर हर तरह से फिदा हूं, उसकी बात कभी नहीं टालता, भले ही सूरज पूरब से पश्चिम में उदय होने लगे।

मेरी बीवी में एक आदत है। वह जब चाहती है कि मुझसे कोई काम करवाया जाय, तब रोजाना दस बजे अलस्सुबह के वक्त, जब कि मैं निद्रा की गोद में चादर ताने लेटा रहता हूं, चाय का प्याला लिए सिरहाने आकर बैठ जाती है, धीरे-धीरे चादर खींचती है और ढक देती है। मुह देखा और बंद किया। बस इसी तरह मुहब्बत में गाल पर चपत भी धीरे-धीरे नाजुक अंगुलियों से जड़ती जाती है। ज्योंही मेरी आंख-खुली कि मेरे सामने चाय की प्याली धर देती है। मैं अपनी प्यारी बीवी की इस खिदमत से बाग-बाग हो जाता हूं। बस, यह मौका पाकर वह जैसा चाहती है, उस वक्त मतलब हल कर लेती है। आज उसने मुझे चाय की प्याली देत हुए एक नई बात कह दी—'क्यों जी! आप तो कंधे-से-कंधा लगाए यही पड़े रहते हो, कभी दुनिया की बातें तो जाना करो। बैटे-बैठे कभी तुम्हारा तो जी भी नहीं ऊबता?'

मैंने कहा—'अई! जी क्या ऊबे, जहां तुम—जैसी प्यारी बीवी हो, वहां मेरा क्या औरों का भी जी लग सकता है। जी ऊबे तो मैं उभा (खड़ा) रहूं, जी ही नहीं ऊबता, मैं क्या करूं? और भला मैं, तुम्हीं बतलाओ, जाऊं तो भी कहां? फिजूल मारा-मारा फिरूं, यह तुम्हें पसंद होगा?'

उसने कहा—'अरे, नहीं जी, यों थोड़े ही। मैं कहती हूं आप एक साहित्यिक यात्रा कर आइए। जरा पंडितों से, लेखकों से और कवियो से मिल आइए। अनुभव बढ़ेगा और मेल-जोल भी होगा। आपने देखा नही, अभी 'सरस्वती' में ठाकुर श्रीनाथसिह जी की एक ही 'इंटरव्यू' निकली है और हिंदी-जगत् में तहलका-सा मच गया है। इसी तरह आप मिलिए और घर आकर पत्र-पत्रिकाओं में 5-6 लेख लिख डालिए। इज्जत भी होगी, आप-ही-आप आपका नाम हो जाएगा, शान है शान। शास्त्रो में कहा है—

'देशाटनम् पण्डितमित्रता च,'

मैंने कहा—'बात तो तुम बड़ी उम्दा बतला रही हो। मेरे जी को आ गई। मगर मैंने तो सुन रखा है, इन हिंदीवालों में सब पोल है। तुम्हारी कसम, अगर मैं यात्रा करने जाऊंगा तो वह मजा आएगा कि क्या कहूं—फिर मैं सब कलई खोल दूंगा।'

उसने कहा—'अगर-मगर की जरूरत ही क्या है, अभी कंसेशन टिकट मिल रहे हैं, सैर कर आओ, हर्ज ही क्या है!'

मैंने कहा—अच्छा तो यही तय रहा। अगले 'संडे' को ही लो। मेरी तैयारी बस तुम्हारे हाथ है।

इतवार को दोपहर की गाड़ी से मैंने पहले सीधे बनारस का टिकट कटाया। रास्तों में डायरी में बड़े परिश्रम से एक प्रश्नावली तैयार कर ली कि जाते ही हर-एक व्यक्ति से मैं इतनी ही बातें पूछता जाऊंगा कि सारा मतलब हल हो जाए। गाड़ी सुबह 5 बजे बनारस पहुंच गई। कुली के सिर पर बॉक्स और बिस्तरा रखवाकर तांगे में जा बैठा। वहां पहले तो मुझे यात्री समझकर पंडे लोग इस बुरी तरह चोंट गए जिस तरह कि मुर्दे पर गिद्ध चोंचों की चोट करते हैं। अभी मेरी प्रश्नावली तो मेरे जेब

ही में रखी रही, और उन्होंने तुम्हारा नाम क्या, तुम्हारे बाप का नाम क्या, उनके बाप का नाम क्या, इत्यादि प्रश्नों की बौछारें शुरू कर दीं। बड़ी कठिनाई से चिल्ला-चिल्लाकर मैंने अपने को 'आर्यसमाजी हूं' कहकर पीछा छुड़वाया। वे कहते चले गए कि—'साला अधर्मी है, सुबह-ही-सुबह अधर्मी का मुंह देखा है।'

इनसे फुरसत पाई तो तांगे वाले ने शांति-भंग करते हुए पूछा—'बाबू जी धर्मशाला जाएंगे?'

मैंने कहा—'नहीं भाई! मैं तो कूंचा घासीराम जाऊंगा!'

तांगेवाला—'का, कूंचा घासीराम कौनो पंडित के नाम हौ का?'

मैंने कहा—'नहीं—रे मुहल्ले का नाम है।'

तांगेवाला—'नाहीं बाबू, हिंया ऐसन् मुहल्ला नाहीं हौ!'

मुझे भी एकदम ध्यान आया। मैंने अर्जुन अखबार में कहीं पढ़ा तो था, पर बनारस में इस नाम का कोई मुहल्ला नहीं है। मैंने तांगे वाले से कहा—'नागरी-प्रचारिणी सभा में ले चल!'

तांगे वाला—'ठीक हौ, ऊ तो गैल ही में परी बाबू।'

मैंने कहा—'बहुत ठीक!'

5-7 मिनट के बाद ही एक बग़ीचा दिखाई दिया। दिन उगने को ही था। कहीं-कहीं पेड़ दिखाई दे रहे थे। बीच में एक सुंदर दुमंजिला भवन बना था। उसी तरह तांगे के चाबुक से इशारा करते हुए तांगे वाले ने बतलाया—'बाबूजी! सभा का मकान है'।

मैंने अपना सामान उतारकर दरवाजे के पास रख दिया। तांगे को रवाना किया। अभी दरवाजा बंद था। वहां कोई मनुष्य भी नहीं था, जिससे कुछ पूछता।

घंटों बैठा रहा, मगर कोई नहीं आया। मैं मन-ही-मन बड़ा बिगड़ रहा था कि 'सभी मर गए! आज क्यों आने लगे? सपना पड़ गया था कि मैं आकर उनकी कलई खोल दूंगा? और बीवी, भला वह मेरे साथ होती तो पता चलता कि परदेश क्या होता है! यहां न आ गई वह 'चाय' लेकर ! उसकी बला से! बाबू जी को चाय यहां नसीब हो, या नहीं!

मैं अपने विचार ही में था कि इतने में एक बूढ़े से आदमी ने आकर ताले में कुंजी लगाई। मैंने एक आवाज दी, पर जवाब नहीं मिला। फिर आवाज दी, तब कानों में अंगुली लगाकर वह बोला—'क्या है?'

मैंने उसकी बातचीत और कान पर हाथ रखने वगैरह से जान लिया कि ये शायद बहरे हैं!

जोर-जोर से अपना मतलब उन्हें कह सुनाया, और उनसे अपना परिचय पूछा? वे बोले—'मेरा नाम तो पाठक है, आप ठहरिए, आज एक मीटिंग है। अभी-अभी रायसाहब श्यामसुंदरदास जी और करीब-करीब सभी साहित्यिक यहां ही आध-घंटे से आ रहे हैं।'

मुझे बड़ी खुशी हुई कि चलो, सभी इकट्ठे यहां पर मिल जाएंगे। मैंने नाहक ही अपनी बीवी को कोसा था। मन-ही-मन मैंने उसे प्रणाम किया और अपनी गलती की क्षमा चाही।

करीब 7 बजे का समय होगा। सामने क्या देखता हूं कि कुछ, सभ्यो का एक समूह सभा की ओर ही बढ़ा आ रहा है, पत्रों में कुछ साहित्यिको के फोटो देख चुका था। सो मैंने रायसाहब, प्रसादजी, शुक्लजी आदि को पहचान लिया। वे, मेरी समझ के मुताबिक, सभा-भवन में आए। जब वे लोग अंदर प्रवेश कर गए तो फिर मैंने सड़क पर नजर दौडाई कि और कोई तो इधर नहीं आ रहा है? देखा कि एक सज्जन छोटे कद के, एक मैली-सी चादर ओढ़े हुए, अपने साथ वाले एक सज्जन के हाथ से पान लेते हुए, 'चुटकी में 'सुरती' दबाए हुए कंपनी बाग में ही घूम रहे हैं। मैंने एक आगे आने वाले सज्जन से पूछा—'भाई! ये पीछे कौन साहब हैं? क्या आप जानते हैं!'

वे बोले—'जी हां! ये प्रसिद्ध लेखक शिवपूजन जी हैं, और इनके साथ बाबू प्रवासीलाल वर्मा हैं।'

मैंने पूछा—'और आपका परिचय?'

वे बोले—'हां, मेरा नाम शांतिप्रिय है। मुच्छन है, मेरे तो कई नाम हैं।'

मैं बड़ा घबड़ाया। 'अरे यही 'परिचय' लेखक शांतिप्रिय हैं!' फिर सावधानी से पूछा—'भाई साहब! माफ करें, मैंने आपका 'परिचय' पढ़ा

है, में आप से यदि 'इंटरव्यू' लूं तो कुछ समय दे सकेंगे।'

वे बोले—'अवश्य! भला, मेरा वह सौभाग्य कहां कि मैं 'इंटरव्यू' दूं? आज आप मिल ही गए हैं तो लीजिए मैं तैयार हूं।'

जैसे स्टेशन पर मूंडने वाला नाई बगल से तुरंत उस्तरा निकालकर हाथों पर ही 'चट्-चट्' फिरा लेता और हजामत कर देता है, उसी तरह मैंने अपनी जेब से फाउंटेनपेन, प्रश्नावली और एक्सरसाईज बुक' निकाल ली और खुशी-खुशी प्रश्नों की बौछार कर दी।

1—आपका नाम?

2—पिता का नाम?

3—पेशा?

4—उम्र?

5—हुलिया?

6—सब्जेक्ट?

7—क्या-क्या किया?

8—दोस्त-मित्र?

शांतिप्रिय हक्के-बक्के-जैसे मेरे सामने देखने लगे। मैंने समझा कि इन बेचारों से आज तक किसी ने 'इंटरव्यू' ही नहीं लिया होगा, ये प्रश्नों से चौंक गए हैं।

शांतिप्रिय आखिर शांति-भंग करते हुए बोले—'मालूम होता है आप कोई सी.आई.डी. के आदमी हैं। वरना इतनी बातों से क्या प्रयोजन है? इसलिए मैं और अपना पता तो आपको नहीं बतलाऊंगा। मुझे कलम रगड़ते अर्सा हो गया है, मुझे किसी ने भी कोई महत्त्व नहीं दिया, बल्कि मुझे बड़ा कटु अनुभव मिला है, मेरे साथ धोखा हुआ है। अगर आप सहायता कर सकते हों तो वही रिपोर्ट लिखवा दूं?'

मैंने कहा—'क्या बतलाऊं भाई साहब, अब यहां मेरा कोई साला या ससुर भी नहीं कि बुला दूं कि मैं कैसे शरीफ खानदान का हूं। अगर मैने कसमें भी खा लीं तब भी आपका संदेह दूर न होगा, इससे बेहतर है कि आप जो रिपोर्ट के तौर पर बतला दें वही सही।'

शांतिप्रिय जी ने भी गहरे में उतरना ठीक नहीं समझा। उन्हें जो कहना था कहने लग गए।

'अच्छा साहब! सुनिए और खयाल से लिखते जाइए। पर आपको मेरी कसम है, आप इस 'इंटरव्यू' को पेपरों में न दें। खुदा के लिए मुझे जिंदा रहने दें।'

मैंने इतमीनान दिलाते हुए कहा—'भला ऐसा विश्वासघात होगा, मुझसे! (मन में) इसी बहाने अनुभव तो होगा।'

शांतिप्रिय जी ने खांसते हुए कहा—'हां साहब! देखिए मैं लाला रामजी दासकी 'सुघड़ गंवारिन' से शादी करके जब बनारस आया तो मेरी प्रतिभा से मुग्ध होकर राय कृष्णदास जी ने कहा—यहीं रहा करो, हम हर तरह से सहायता देंगे। मैंने 7 मास के अंदर रायसाहब के पास रहकर एक सत्संग नाम का महाकाव्य लिखा और कुछ गद्य काव्य, नाटक वगैरह। रायसाहब तो दंग रह गए, जब उन्होंने काव्य सुना। वसंत ऋतु आ गई थी। उनके घर वसंत का बड़ा उत्सव होता है। उस रोज उनके घर बड़े-बडे लिक्खाड़ों का झुंड जुटा। वे हर एक से मेरा परिचय, प्रतिभा का महत्त्व और महाकाव्य की दाद देते जा रहे थे कि एक सज्जन पगड़ी बांधे हुए, कंधे पर हाथ रखे हुए, जब रायसाहब के साथ मेरे पास आए तो मैंने समझा कोई रोकड़िया होंगे। रायसाहब ने उनके हाथ में मेरे पास से काव्य की पुस्तक लेकर बतलाना शुरू किया। मैं चिढ़ रहा था कि किस बोडम को काव्य बतलाया जा रहा है। मन-ही-मन 'अरसिकेषु रसस्य निवेदनम्' की आवृत्ति कर रहा था। वे पगड़बंद बोले—'रायसाहब, यह मैं शांति से देखूंगा, बड़ा बढ़िया है।'

रायसाहब मेरी मुखमुद्रा से मलिनता को ताड़ गए थे। वे बोले—'शांतिप्रिय जी ये मेरे मित्र मैथिलीशरण जी हैं, आपका काव्य देख भिजवा देंगे।'

मैंने कहा—'जैसी आपकी मर्जी। बतलाइए साहब! और क्या कहता? रायसाहब की बातों पर अविश्वास तो कर नहीं सकता था। परंतु कसम आपके गले की, मेरे साथ बड़ा धोखा हुआ। वह काव्य 'साकेत' के नाम

से उन्ही गुप्तजी ने अपनी कृति कहकर छाप लिया है, और कीर्ति कमा रहे हैं। अब मेरे पास उसकी पांडु या श्याम कोई लिपि नहीं है। क्या सुबूत दूं कि मैं ही ठगा गया हूं! इसी तरह इन बड़े बनने वालों का क्या हाल होगा? स्वर्ग में खुदा तो गवाह देगा न?'

मैंने सख्त अफसोस जाहिर करते हुए कहा—'राम-राम! क्या ज़माना है, धाड़े पड़ने लगे हैं—धाड़े? अच्छा साहब! आप में प्रतिभा है। छोड़िए, आगे कभी-न-कभी तो पाप फूटकर ही रहेगा। आप तो बनारस में ही मित्रों का साहाय्य लेकर काम कीजिए। यहीं छपाइए, फिर क्या चोरी होगी?

शांतिप्रिय जी ने मेरी बात रोककर कहा—'अरे साहब! आप नही जानते। यहां भी चोरी होती है, क्या बतलायें? अभी-अभी शिवपूजन जी के लिखे हुए चारों नाटक प्रसाद जी ने अपने नाम पर छपवा लिए है। प्रवासीलाल जी की कहानियां 'आज' कार्यालय से गर्दे जी के द्वारा प्रेमचंदजी ने गायब करवा लीं—अपने नाम पर छाप लीं। 'सूर्योदय से' हर रोज मैटर उड़कर 'आज' के अग्रलेखों में काम आ रहा है। छपाई के काम में आज पराड़कर जी जैसा और बाबा ज्ञानानंद जैसा कौन विशेषज्ञ है? पर पूरा कम्पोज 'हंस' कार्यालय में तैयार लीजिए! काशी भी अजीब है। रामचंद्र शुक्ल रोजाना विश्वविद्यालय में 'हरिऔध' जी से झगड़ बैठते है कि आखिर उनकी लिखी कविताएं हरिऔध नाम पर कैसे छपती है? पर इन बातों का पता नहीं चल पाता!

'विनोदशंकर व्यास जी ने अभी-अभी 41 कहानियों का संग्रह अपने नाम पर निकलवा दिया है। वास्तव में यह रचना श्याम-सुंदरदासजी की है!'

मैंने बीच ही में शांतिप्रियजी को रोककर कहा—'भाई साहब! मैं तो घबड़ा रहा हूं। हद हो गई—हद। अब नहीं सुना जाता, कसम खुदा की। मैं 'इंटरव्यू' आइंदा कभी न लूंगा। मेरी बीवी ने सच कहा था कि 'जमाने का अनुभव मिलेगा।'

मैं तो उनके उत्तर की राह देखे बिना ही तुरंत कम्पनीबाग से बाहर सड़क पर निकल गया। तांगा किया। सीधे स्टेशन पर आकर दम लिया।

वहां दो पैसे के चने लेकर खा लिए। टिकट कटाकर पहली ट्रेन से घर का रास्ता नापा।

जब घर आकर सब काम से निबट लिया तो मेरी बीवी ने पूछा—'हां, अब तो बताओ, क्या-क्या कर आए हो?' मैंने आप-बीती सभी सुना दी, बीवी ने भी शांतिप्रिय जी का पक्ष लेते हुए कहा—'सुना जी! यह 'इंटरव्यू' कहीं मत छपवाना, बेचारे को कठिनाई में उतर जाना पड़ेगा! बेइज्जती होगी सो अलग।'

मैंने कहा—'बेहतर है, पर यह एक सुंदर कहानी हो सकती है।'

बीवी—'फिर कल्पित नामों से कहानी ही लिख देना।'

मैंने कहा—'मगर अफसोस, कहानी-कला से मैं अनभिज्ञ हूं।'

मुखड़ा क्या देखे 'दर्पण' में?

यह वात किसी 'सूरदास' के मुंह से ही शोभा दे सकती है। वह क्या जाने कि 'मुखड़ा' किस तरह ढला हुआ है। शास्त्रकारों ने ऐसे लोगों के लिए ठीक ही कहा है—'लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति?' किंतु जिन्हें ईश्वर ने दो आंखें बख़्शी हैं, नायाब चीज़ इनायत की है, यदि उनके लिए दर्पण जैसी महत्त्व की वस्तु न बनी होती तो आज जिस ससार को हम देख रहे हैं, कदापि न होता—न होता!! जिस समय विधाता मानव प्राणी का 'वर्क-शॉप' खोले बैठा था, उस समय अवश्य ही वह किसी बेढब नशे की मस्ती में—धुन में था, उसके दिमागी क़बूतरखाने में और किसी बात को घुसने की ज़रा-सी भी गुंजाइश बाकी नहीं रही थी। सपाटे के साथ वह आदमज़ात को, अलग-अलग नमूनों में अपनी कारीगरी का करिश्मा बतलाने के लिए, ढालता चला जा रहा था। जब एक बार सारा मसाला खतम हो गया और दूसरी बातों की सूझ उसकी बूढ़ी खोपड़ी मे आई, तब सबसे पहले उसे यदि अपनी ग़लती पर अफसोस हुआ तो यह हुआ कि 'मैंने इन लोगों को बना तो दिया, मगर ये अपने-आपको शक्ल-सूरत पर नाज़ कैसे कर सकेंगे? इन्हें अपने-आपको देख लेने का तो माद्दा (सिफत) है ही नहीं।' तुरंत उसने 'आईने' की रचना की। इसी से आईने की उपयोगिता समझ लीजिए कि वह कितनी जरूरी है। यह वस्तु ठीक मानव-सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुई है, अतएव संसार के सभी द्विपद-प्राणियों ने उसको निर्विरोध स्वीकार कर लिया। बाप, बेटे को निकाल सकता है; पति, पत्नी को तलाक दे सकता है; गांठ में महीने भर पैसा न हो मंजूर; खाने को दाने नसीब न हों स्वीकार; परंतु ऐसा घर, ऐसी दुकान,

ऐसा होटल, ऐसी झोंपड़ी, ऐसा भव्य-प्रासाद, और अधिक क्या, ऐसा कोई आदमी, और ऐसी कोई स्त्री न होगी, जिसने अपने पति से, और पुत्र से भी अधिक प्यार, इस 'दर्पण' को न किया हो, न करती हो—और न करेगी। अगर दुर्भाग्य है तो उन बेचारों का ही, जिन्हें जिंदा रहकर भी दो आंखों का सुख नहीं!

अंधों के लिए तो जीना-मरना समान है। उनके लिए दुनिया में सभी अंधे हैं। पर जिनकी चमकती हुई, कान तक लंबी, हिरनों जैसी चपल, तारों-जैसी झिलमिलाती हुई, और तीर की तरह तीखी-कंटीली, मदभरी, जादूभरी, रंग-बिरंगी सिर्फ दो आंखें हैं, वे भी अपने-आपके लिए अंधे ही हैं, उन्हें अपनी सूरत नहीं दिखाई पड़ती। यही कारण है कि उनकी आंखें 'आईने' में रखकर खुदा ताला ने उन्हें अपनी सूरत निरखने का मौका दिया है। अब आप समझ गए होंगे कि दर्पण कितना महत्त्वपूर्ण, उपयोगी, सर्वप्रिय, और अज्ञात सर्वव्यापित्व की कल्पना वाले ईश्वर की तरह किस तरह प्रत्यक्ष और सर्वव्यापी है। ईश्वर चाहे सर्वव्यापी हो या न हो, वेद भी जिसके लिए पल्ले फटकार कर 'नेति-नेति' कह देता हो, पर यह 'दर्पण' किसी देश में, किसी अवस्था में, किसी भी स्थान में निश्चय ही सर्वव्यापी है, सर्वव्यापी रहेगा, इसमें शंका उठाने का लेशमात्र भी अवसर नहीं है। जिन लोगों को दुनियाबी आंखें नहीं हैं, जिन्हें हम सूरदास के भैया-बद कह सकते हैं, उन्होंने एक नया 'आईना' बना लिया है! वे अपने 'यार' की 'तस्वीर' उसी 'आईने' में देखकर दिल समझाइश कर लेते हैं, लेकिन 'आईना' उन्हें भी जरूरी हुआ।

दिल के आईने में, है मेरे तस्वीरे यार।
जब ज़रा गर्दन, झुकाई, देख ली।।

क्या करें, मज़बूर हैं। पर इससे भी दर्पण की महत्ता ही बढ़ती है और आंख वाले तो अंग-अंग को बार-बार मोड़-मोड़कर सामने के आईने में देखकर आराम-संतोष का अनुभव किया करते हैं। बद-शक्ल-से-बदशक्ल भी, जिसे हम अपनी भाषा में डार्विन के विकासवाद का आधार-स्तंभ मान सकते हैं, एक बार कुछ क्षण के लिए दर्पण के सामने आ जाता है

तो अपने मन में वह मदन को भी लज्जित करने वाला समझने में रच भर भी संदेह नहीं आने देता। कुरूपता में भी वह सुरूपता शीघ्र ही निकाल लेता है; जैसे खाली-बेकार मानी हुई लकीरों में से भी इतिहासज्ञ हजारो वर्ष पूर्व की संस्कृति की 'बू' सूंघने लगते हैं। दर्पण के अभाव मे अपने-आपके रूप पर मुग्ध होने वालों की क्या दुर्गति होती होगी—भगवान् ही जाने! और जिनका मुख-कमल ज्वालामुखी से निकले हुए हजारों वर्ष पूर्व के सूखे लावे की तरह हो, जिनके चेहरे पर रुई की गांठ बांधने के समय प्रेसिंग हो गया हो, जिनकी शक्ल 'चांग काई शेक' की तरह हो गई हो, जिनके चेहरे पर 'सपट् लोशन' हो या जिनके चेहरे पर नाक किसी 'सोल्यूशन्' से चिपका दी गई हो, या जो खुदाई पच्चीकारी का काम बनवा लाए हों या जिनके गाल पकौड़ी की तरह फूले हों, अथवा ऐसे पिचक गए हों कि हम 'चार्ली चैपलिन' कह सकें, या वे लोग जो मानव योनि में भूलकर अवतीर्ण हो गए हों, वास्तव में उनकी रचना किसी और ही क्षेत्र के लिए की गई हो, ऐसे अवतारी पुरुषों का जीवन ही कठिन हो जाता, यदि दर्पण न होता। ये या ऐसे 'नवरत्न', दर्पण को देखकर ही जीते हैं। वे सिर्फ 'पंजर' हैं, उनका जीव-प्राण ईश्वर, बस जो कुछ है दर्पण है। मानवशास्त्र का भी यह अबाधित सिद्धांत है। पुरुष-जाति की अपेक्षा, स्त्री-जाति का इस वस्तु पर 'पति' से अधिक प्रेम है। वे अपने आपको देखकर ही जी सकती हैं। उन्हें शान आ जाती है, वे अपनी विह्वलता आईने पर प्रकट कर सकती हैं। वे एक बार शृंगार करके दर्पण के सामने खड़ी हो जाएं तो उनकी आंखों में सौ प्याली मदिरा की मादकता छाने लग जाती है। वे अपने-आपके रूप पर मुग्ध हो जाती हैं। जिस समय भगवान्-दर्पण के सामने खड़ी होकर कोई केश-किशोरी अपने केश-कलाप को गूंथने के लिए कर-कमल बढ़ाती है, तब वह मानिनी एक-एक केश में संपूर्ण मनोरथों को खींच-खींचकर बांध लेती है। दर्पण मे कला और रसिकता का महत्त्वपूर्ण सम्मिश्रण है। इन गुणों को रमणियो ने ही अधिक परखा है। अलाउद्दीन ने, इसी दर्पण में से महाराणी पद्मिनी का चंद्रमुख देखकर, उन्मत्त हो संपूर्ण मेवाड़ राज्य को अपनी आंखों की

चिनगारियों से भस्म कर डाला था! 'पद्‌मिनी' स्वयं अति सुंदरी थी। पर यह ज्ञान भी उसे तो इसी दर्पण द्वारा ही हुआ था। इससे भी 'पद्‌मिनी' के मुकाबले में दर्पण ही को अधिक महत्त्व प्राप्त है। इतिहास के निर्माण मे इस तरह इस 'दर्पण' का महत्त्वपूर्ण भाग है। जिन रामचंद्र को हम आज हज़ारों वर्ष बाद भी भगवान् के रूप में आदर करते हैं, उन्हें भी शैशव काल में इसी दर्पण ने रोते हुए समझाया था। रामचंद्र आकाश के चंद्र के लिए मचल पड़े थे। दर्पण द्वारा वह आकाशीय चंद्र राम के सामने ला रखा गया। राम रोने से बाज़ आ गए। यदि उस समय दर्पण जैसी सर्वव्यापी वस्तु न होती, तो आज के राम को हम कभी इतना स्मरणीय नहीं पाते।

स्वदेशी आंदोलन को लीजिए। परदेशी कपड़े को निकाल देने के लिए आंदोलन हो सकता है, पर वह कांच, देशी, परदेशी रूप में कितना घर-घर में घुसा हुआ है—किसकी हिम्मत है कि इसका बहिष्कार कर सके? स्वदेशी आंदोलन तो कुछ दिन चल भी सकता है, पर 'दर्पण-बहिष्कार'—आंदोलन पैदा हुआ तो क्षण भर ही में मर जाएगा। कभी किसी हालत में जी नहीं सकता। मकान में, खिड़की में, मंदिर में नाई के यहां, पान की दूकान पर दर्पण ही जीवन है।

सौंदर्य का तो दर्पण के साथ जीवन-मरण का संबंध है। कुछ सुदर (!) प्राणियों को प्रतिक्षण कांच में अपने श्रीमुख को निरखने का स्वभाव होता है। यदि उन्हें कहीं दर्पण-दर्शन का अवसर न मिले तो वे तड़फडा जाते हैं। लैला-मजनूं की तरह विरह-विह्वल हो उठते हैं। दर्पण की महिमा तत्त्वज्ञानियों ने औरों की अपेक्षा कम नहीं समझी है। वे कांच-जैसा निर्मल हृदय देखना चाहते हैं। 'निर्मलता' में यद्यपि स्वयं निर्मलता है, वह भी 'कांच' जैसी हो तो विशेषता हो जाती है। इसलिए निर्मलता से भी दर्पण की महत्ता ही अधिक है। और जिन लोगों के साथ प्रकृति ने सरासर अन्याय किया हो, प्रकृति के स्वास्थ्य से जिनका जन्मजात बैर हो, अंगूरी गालों से जिन्हें दुश्मनी हो, गालों में जिन्हें बंगाल की खाड़ी देखने की रुचि हो, गुफाओं में जिनके नेत्र तपस्या करते हों, और जिनका अमूल्य

समय अधिक-से-अधिक स्त्री-मित्र की तलाश में व्यतीत होता हो, ऐसे पुरुष-रत्नों का दर्पण से घनिष्ठ दोस्ताना होता है। कभी-कभी दर्पण में कुरूप भी सुरूप दिखाई देने लगते हैं, और सुरूप में भी कुरूपता के दर्शन हो जाते हैं। दर्पण यदि कुछ स्वयं विशेषता रखता हो तो एक मुख वाला मानव भी रावण का कोई रिश्तेदार बन जाता है।

मेरे मत से मैं दर्पण में ईश्वर का विशिष्ट अंश देख रहा हूं। मैं तो यह जानता हूं कि किसी और प्रमाण की अपेक्षा 'स्वराज्य'—प्राप्ति में 'दर्पण' ही बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। दर्पण में देख-देखकर भारतवर्ष के लोग अपने मुंह पर के तेज, शौर्य और बल को समझ सकेंगे। फिर वे एक क्षण में बड़ी-से-बड़ी शक्ति के छक्के छुड़ा सकेंगे, इसमें शंका ही नहीं। जिनके चेहरे पर कमज़ोरी दिखाई पड़ेगी, वे लज्जित होकर दर्पण के द्वारा पुष्ट बनने की प्रेरणा पा सकेंगे। प्रेरणा से बल मिलेगा और बल से—स्वराज्य! इसलिए हमारा दृढ़ मत है कि 'दर्पण' से बढ़कर संसार-व्यापी-ईश्वर-प्रतिनिधि अन्य कोई वस्तु नहीं है। इसलिए एक बार प्रतिदिन समस्त द्विपद प्राणियों को चाहिए कि भगवान्-दर्पण की एकचित्त होकर आराधना करें।

(रचनाकाल 30-8-1934)

अक्ल सप्लाई एंड को.!

सातों लोक के एक मात्र कंट्राक्टर!!

कुछ युग बीते होंगे, हमने चकलौंद के नगड-दादा चौमुहे-ब्रह्म-देवजी से संपूर्ण बुद्धिमानी का कंट्राक्ट लिया है! उम्मीदवारों की गणना करना सहज बात नहीं—टिड्डी दल था, टिड्डी दल! इतनी अक्ल तो आपके दिमाग में भी होगी कि इन उम्मीदवारों में सभी एक सांचे के ढले हुए तो होंगे नहीं, बेर के दरख्त के कांटों के मानिंद असमान होंगे। इस समूह के रहते हुए भी बूढ़े ब्रह्मा ने हमारी अक्ल को वास्तविक अक्ल कहलाने का हकदार समझा है, यही वजह है कि ठेका औरों को न देते हुए हमें देना ही उचित समझा! अगर आप में जरा भी अक्ल मौजूद होगी तो आगे चलकर वह खुद आप तस्लीम कर लेंगे।

हमने इस महत्त्वपूर्ण और पुनीत जीवन में अनेक कार्य करने का निश्चय किया है, तदनुसार वयोमर्यादा का ध्यान रखते हुए पत्थर पर पूरा-पूरा प्रोग्राम खुदवा लिया है। एक बार चारों ओर निगाह फिराकर देखने से तत्काल विदित हो गया कि हाय! हमारे पराए लोगों ने मिलकर संसार के इतिहास का किस प्रकार सत्यानाश कर दिया है। सौभाग्य से प्रोग्राम बनाने के समय हमने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया था—इतिहास-संशोधन करने का विषय ही पहले-पहल रखा था। अब मुझे पहले यहां एक बात साफ कर देनी पड़ेगी—आपकी बुद्धि के ऊपर मुझे संदेह है, क्योंकि आपकी आदत पड़ गई है कि किसी ने इतिहास-संशोधन का नाम लिया तो आप उसे कोई अरब-खरब वर्षों

युगों का पुरानी हड्डियां खोदने वाला, अथवा शिला-लेख (पत्थर-लेख) सरीखी जड़ वस्तु का खोज निकालने वाला, समझ लेंगे। अरे-महाशय! ऐसे इतिहास-संशोधक गिद्ध होते हैं, गिद्ध! और 'रिसर्च स्कालर' तो चूहे से क्या कम हैं? आप किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को छिपाकर रख देखिए, ये क्या कमाल करते हैं! न तो इन्हें ओझाजी का इतिहास देखना पड़ेगा, न स्मिथ साहब की हिस्ट्री, सीधे वहीं पहुंचकर सूंघा कि वस्तु-संशोधन किया! पर इनका 'शुभ नाम' किसी दईमारे अखबार या मासिकपत्र में नहीं छपते देखा! ये बेचारे 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' के सिद्धांत को मानने वाले हैं! विज्ञापन-जगत् से दूर रहते हैं! खैर! हां, तो मैं अपने विषय में कह रहा था कि मैं इन 'रिसर्चमैनों' में नहीं हूं। मुझसे अक्ल का खासा रिश्ता है, और उसका अकेला सोल एजेंट मैं ही हूं; अतएव आगे चलकर बतलाऊंगा कि मैं क्या करूंगा।

अक्ल के ठेकेदार बनने के पूर्व बहुत-बहुत सोचा है, विचार-विमर्श किया है × और हजारों हाथ लंबे दूरबीनों और खुर्दबीनों से भविष्य को देख भी लिया है, ताकि आगे चलकर कोई अन्य जंतु (द्विपाद) ठेका प्राप्त कर सके! यहां एक और भी चातुर्य का काम किया है। यह ठेका किसी स्थल-विशेष के लिए नहीं, ऑल इंडिया, या यूरोप भर के लिए भी नहीं, बल्कि अतल, वितल, सुतल, तलातल, पाताल, अस्पताल, नैनीताल आदि स्वर्ग, नर्क कुल ठिकानों के लिए एक बार ही ले लिया है। सदा के झंझट से बचें! दूसरों को किसी जगह का ठीका न मिल जाए इस 'लघुशंका' क्या-'दीर्घ शंका' तक का स्थान मिटा दिया है! देखिए, है न मति-मानी का कमाल! हमने पितामह को कैसे छकाया, और किस तरह यह काम ले लिया, इसका 'कच्चा-चिट्ठा' आपको सुनाने लगें तो अब भी आप मौका पाकर 'हरसू-ब्रह्म' की कृपा से हमें फौरन से पेश्तर धड़ाम से गिरा देंगे!

यहां तक हमको अपना परिचय देने की जरूरत थी, नहीं तो आप क्या समझते कि आखिर हम हैं कौन? और हमें भी क्या गर्ज पड़ी थी कि अपना 'एडवरटाइजमेंट' करवाते फिरें! आप कोई साहब क्यों न हों,

एक बार हमारे 'अक्लसप्लाई ऑफिस' में जूतियां चटकाते आवेंगे ही। यह संदिग्ध बात तो हमने यों बतला दी कि यह लेख 'हमने' लिखा है।

वैसे एक बार हमने सोचा था कि मृत्युलोक में महात्मा गांधी अपनी जीवनी (आत्मकथा) खुद ही लिखकर सुना रहे हैं, अपनी अक्ल से हमने पूछा—'बोलो! तुम्हारी भी 'कथा' ऐसी लिख दी जाए? 'आकाशवाणी हुई—ठीक है, संसार के बीचों बीच एक अजीब साहित्य बन जाएगा!

अधोलोक (!) की ध्वनि ने गवाही देते हुए आकाशवाणी का समर्थन किया। फिर तो इंद्रादि देव, रावणादि राक्षस, और कितने ही नरराक्षसो की आत्माएं (श्री बी.डी. ऋषि के प्लेंचेट की कृपा से) स्वीकृति के लिए संदेश भिजवाने लगीं। मैं मानव धर्म के वश होकर दयालुता से इस मुलाहिजे को टाल न सका! अस्तु अब सर्वप्रथम दुनिया की कोयले की खदाने महासागर में मिक्स की और ब्लूब्लैक स्याही तैयार करवा ली, दरख्तों की लेखनी बनाकर अखिल भूमंडल पर लिखने का श्रीगणेश किया। भाई साहबो! क्या बतलाऊं! मंगलाचरण भी पूरा न कर पाया था कि स्याही का दीवाला बोल गया! इससे मेरे कार्य में बड़ी भारी हानि हो गई, मै बारिस की राह देखने लगा कि सागर में जल भर जाए तो फिर से अपना कार्य आरंभ कर दूं! तब तक कुछ थकावट ही क्यों न मिटा ली जाए। परंतु लोग ठीक कहते हैं—

'अपन सोचते और हैं, होता है कुछ और!'

मेरी 'जीवन-कथा' कोई मामूली चीज तो होनेवाली नहीं थी। लोगो के पास आज जितना गाड़ियों पुस्तकों का स्टाक भरा था, कल इस मेरी 'जीवन-कथा-शरीफ' के प्रकाशित होने पर उसका क्या हाल होता? कोई उन्हें फूटी आंखों न देखता, सारा संसार समस्त साहित्य को भुला इसी पर अपना जीवन निसार कर देता। इस स्वप्न को देखकर विश्व-साहित्यिक महामंडलों की बैठकों पर बैठकें होने लगीं, बड़ा होहल्ला मच गया, सत्याग्रह, झूठाग्रह, दुराग्रह, काराग्रह आदि आंदोलन करने की यत्र-तत्र योजनाएं की जाने लगीं। इन मंडलों की ओर से आंदोलन के आरंभ करने के पूर्व एक 'डेप्यूटेशन' अपने-अपने शासकों की सेवा में भेजने का निश्चय किया गया।

'डेप्यूटशनों' का जहा दखिए ताता लग गया। मालिकों को भी अपनी कीर्तिरक्षा की चिंता ने इस तरह घेर लिया जैसे मकड़ी अपने जाल में मक्खियों को फसा लेती है! नरेंद्र-मंडल की एक बैठक भी हो गई।'महाराज-मंडली का एक डेप्यूटेशन सहस्रनेत्र इंद्रदेव के पास इसलिए पहुंचाना तय हुआ कि इंद्रदेव से प्रार्थना की जाए कि–'वे इस बार 'अवर्षण' कर दें, यानी जो है सो का नाम करके इस बार किसी प्रकार करके पानी बनाम जल जो है सो बरसावें ही नहीं, यासों बारंबार करके, समुद्र सूखे रह जाएंगे और वा समय के बीच में जल के न आवनेसों स्याही तैयार न होकर लिखने का कार्य भी या 'प्रकार सों बंद पड़ जावेगो'। इस प्रस्ताव से सभी लोगो को संतोष हुआ और निर्विरोध स्वीकृति मिल गई। इन लोगों में जो वृद्ध, अनुभवी लोग थे उनका एक मंडल भगवान् इंद्र के पास सुरपुर में जा पहुंचा।

इंद्र चाहे देवाधिराज हों, पर हैं तो मनुष्य-हृदय ! डेप्यूटेशन वालों ने ज्यों ही अपने पचड़े को करुणारस में मुहर्रमी सूरत बनाकर कहना आरंभ किया, तो सुनते-सुनते उनका मानवी बज्र-हृदय पिघलने लगा, मुंह से वे कोई शब्द बोल न सके। उनके 'हजार नेत्र' एक साथ ही बह निकले! भाइयो, इन हजार आंख रखने वाले से तो दो आंख वाले ही शर्मदार होते हैं! वे दूसरों के श्रम को तो समझ लेते हैं! पर आह! सच तो है। आखिर, उनके हाथ तो दो ही थे, आखिर आंसू रोकना उनके कब्जे की बात तो थी नहीं जो रोक लेते! दो हाथ से अधिक-से-अधिक चार आंखें पोंछ डालते! आंखें क्या बला थीं, वहां तो एक-दो नही पूरी-हजार! यह महाशय रोने को तो रो पड़े; पर न सुनो...मेरी...सा...री ...लि...खाई...उन...भले...आदमी...की...एक...रुलाई...में...धुल गई!!। डेप्यूटेशन वालों ने समझा इंद्रदेव पर प्रभाव पड़ गया है, वे हमारी बात से हार्दिक सहानुभूति रखते हैं, वे सब वहां से लौट पड़े; पर इतनी अक्ल कहां? शौच्य-विचार कहां? कि यहां सारा काम ही चौपट हो गया है। जब यहां आकर अपनी आंखों इस सर्वनाश का भीषण दृश्य इन लोगों ने देखा तो ये विघ्न-संतोषी जीव हर्षोन्माद से उछल पड़े! संसार में बस, वही दिन था जब सर्वप्रथम इन लोगों ने अपनी सफलता पर सर्वत्र रोशनाई

फैलाई! रंग-अबीर उड़ाया! यही दिन होली के नाम से मनाया जाता है। रग खेला जाता है, मिठाई बांटी जाती है। इस तरह इन द्विपद जंतुओं की इज्जत रह गई, इसी का प्रदर्शन होली की उत्पत्ति है। मैं चाहता था कि इतिहास की बातें आगे कभी सुनाऊंगा, पर क्या किया जाए? शब्द-शब्द से इतिहास टपका पड़ता है, बुद्धि की विपुलता आखिर कहां जाएगी! मैं मन मसोसकर सिर पर हाथ रखे बैठा रहा! मुझे इस समय भगवान् की गीता का एक वाक्य स्मरण हो आया और अपने दुःख को भुलाया। भगवान् कह गए हैं कि—'अनेक जन्म संसिद्धीं ततो याति परागतिम्!' अर्थात् अनेक जन्म किए हुओं का जो परिश्रम सिद्धि को प्राप्त करता है, उसे पर-याने दूसरा, गवां देता है। अच्छा इंद्रद्रेव! भाई तुम क्या करते! भगवान् की आज्ञा का तुमने पालन किया! किंतु हाय! हाय! मेरी सारी मेहनत आंसुओं से पुंछ गई!

पाठको! अब हमारा जी ठिकाने नहीं है, आप ही सोचिए—जिस पर ऐसी बीती हो वह क्या ठिकाने पर ही रहेगा! फिर भी हम तो इतना सुना ही गए! हमको धनियावाद दो! थैंक्स दो! रामायण में सूरदास जी ने कौंसिल में बैठे हुए शंकर भगवान् के सामने लार्ड रसेल से कहा था कि—"सर्वेषामेव दानानां थैंक्स दानं विशिष्यते!" अस्तु अब हम जो कुछ कहना चाहते थे, आगे कभी सुना देंगे।

संपादक जी से आप लोग प्रार्थना कीजिए कि—'आपको 'हमारे' द्वारा अपूर्व विषयों के सुनवाने का सौभाग्य देवें, मुझे तो गर्ज नहीं, मे तो संपादक जी से भी कहे देता हूं कि मेरी इज्जत का खयाल बना रहे, वरना स्मरण रहे 'अक्ल' का ठेका मेरे पास ही है!'*

---

* आज स्वप्नपुरी में हमें यह रद्दी में पड़ा हुआ एक पन्ना मिल गया था, उसमें इन पंडित जी का अशुभ नाम यों लिखा हुआ था—

—निखिल पंडितेंद्रमंडल निविड़ांधःकार महामहोपादानंदाचार्य श्री वियुक्त पं. भुजंगामन षिपदंताचार्य, षडशास्त्रानाचार, शंख-खर स्वरूप ('शंकर स्वरूप' अब बिगड़कर बन गया है) ए.ए.एस.एस. एक्स. वाय.जेड आदि अनादि।

'गधा'-गुणगान!!!

जिस समय दुनिया निरी बची थी, आदमजात पर शैतानी का पंजा पूरी तरह जम नहीं पाया था, उस बेशकीमती टाइम को देखकर (मौका पाकर), किसी दो पैर के मनुष्य-रूपी पशु ने अपने से ज्यादा लंबे कान, और पैर, और आवाज रखने वाले प्राणी को आश्रय दे दिया। इन लंबे कान, चार पैर और पंचम स्वर वाले श्रीमान् जी का शुभ नाम 'रासभाधिराज' उर्फ-'गधा' है। इन 'गधे-महोदय' ने भी अपने आश्रयदाता के प्रति ईमान-धर्म से विश्वास स्थापित कर लिया। जंगल की सुख स्वतंत्रता और 'स्वराज्य' को छोड़कर शहराती जीवन व्यतीत करने के लिए मानव-मित्रता की आशा से परतंत्रता की शृंखला अपने गले में डाल ली।

इसका नतीजा क्या हुआ, यह कहने की जरूरत नहीं। इस बेचारे गदहे का विश्वास 'नीलाम', कर दिया गया। पहले दोस्त बनाकर फिर लातों का उपहार दिया जाने लगा। यह मूक पशु अन्यायों की परंपरा के अंदर बराबर कुचला जा रहा है, इसकी हालत ठीक 'राजस्थान'-सरीखी है, 'गुलाम-प्रथा' में इसका प्रथम स्थान हो गया है। आजतक इसे 'ज्ञान' नहीं हुआ है, ज्ञान न होने से आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं आई। वैसे इसको अपनी तरह के 'नेता' तो मिलते रहे हैं, पर वे जैसे अछूतों का उद्धार करने के लिए दूर-दूर से उपदेश देते रहते हैं या छूकर नहा लेते है वेसे मिले हैं; बात यह थी कि वे 'दो पैर' के रहे हैं। इस जाति में कोई खास नेता नहीं हो पाया है। गधे के नाम पर तिरस्कार, घृणा और अपमान-ताड़ना के जंगल-के-जंगल खड़े हो गए हैं। सारी दुनिया का इतिहास साक्षी है कि मूर्ख मानव तक इस बेचारे अपमान-मूर्ति गदहे की

उपाधि से भूषित किया जाता है। इस उपयोगी उपकारक प्राणी के लिए कितनी 'तुच्छता'-क्षुद्रता के भाव हैं।

जिस समय जुल्मी लोगों को वेबोलियन प्रजा ने परास्त कर दिया था, तब इसी गदहे की खाल से उनको ढककर शहर में घुमा दिया गया था।

ईजिप्ट देश में जिस आदमी को मूर्ख माना जाता था, उसके मुह पर 'गधे' का मुंह, और लंबे कान लगा दिए जाते थे, तो समझ लीजिए कि वह मनुष्य अज्ञान के अंधेरे में फंसा हुआ है। ग्रीक-साहित्य में 'गधे' के लिए बड़े अपमान-सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। और कही रोमन लोगों को बाहर जाने के समय यह महाशय-'गधा' दिखलाई पड जाए तो अपशकुन मान लिया जाता है। इस तरह तमाम दुनिया भर मे 'गधे' को बुरी निगाह से देखा जाता है।

ईसाई धर्म में गदहा!

ईशू-क्राइस्ट यूरोप भर में प्रेम, न्याय और अहिंसा की आवाज़ बुलद करते रहे हैं, और जेरुसलम की भूमि पर आज भी उनके नाम पर 'प्रेम-धर्म' की कीर्ति फैली हुई है। परंतु वे भी इस गरीब गदहे के विचारणीय प्रश्न को सुलझा न सके। जेरुसलम में प्रवेश करने की कठिनाई को जिस प्रकार इस गरीब प्राणी ने हल किया है, वह भूलने जैसी बात नहीं है। गदहा आज भी अपनी गर्दन पर 'धर्म'-चिह्न धारण किए हुए त्याग और सहिष्णुता का परिचय दे रहा है। यही वजह है कि क्राइस्ट धर्म के मंदिरों-गिरजो पर आज इसका सिर टंगा हुआ मिलता है। ईसाई धर्म के पंडित लोगो ने अपनी टोपियों पर इस निरपराध प्राणी के कान अंकित किए हैं। यह देखकर सहज स्मरण हो जाता है कि शायद 'महात्मा रावण' के ही ये कुछ दूर के रिश्तेदार होंगे। इस पर भी ईसाई जगत् में इस प्राणी के साथ जुल्म किया जाता है—यह देखकर आशंका होने लगती है कि स्वर्गस्थ ईशू की आत्मा यह कैसे सहती होगी? दुनिया के सच्चे आधार-स्वरूप इस गदहे की हालत देखकर किस सहृदय को मर्मांतक चोट न पहुंचेगी?

प्रगतिशील गदहा!

यह सब कुछ होते हुए भी दुनिया की प्रगति में जितना साथ इस प्राणी ने दिया है, उतना और किसी ने नहीं दिया है। इस लंब-कर्ण-काले-प्राणी पर मुझे बहुत दया आती है, यही कारण है कि मैं आज अपने इस महिमाशाली 'चतुष्पाद शास्त्री' की गुण-गरिमा वर्णन करने को उद्यत हुआ हूं, और सभी स्वार्थी लोगों से कहता हूं कि ऐ भले मानसो! ज़रा सोचो, आज जो कुछ तुम प्रगति कर सके हो, सब इस गदहे का ही प्रताप समझो, तुम कहोगे कि यह कैसे?—तो सुन लो!

गधा ही इस जगह के लिए सर्वश्रेष्ठ और प्रगतिशील प्राणी है। लोग कहते हैं कि यह शिथिल है, 'ढीठ है', पर यह सच नहीं है। घोडे को लज्जित करने वाले-धब्बोंवाला, सिंह को शर्म आ जाए ऐसी झबरी पूंछवाला, लंबे-लंबे कानोंवाला, कमल की पंखुड़ी-बराबर आंखोंवाला यह गदहा, मानव-जाति का परम हितैषी है। अरबस्तान में लड़ाई के समय जिस समय 'सांडनियों' के आगे 'खप्प-खप्प' चाल से चलता है, उस समय ऐसा मालूम होता है जैसे यह बड़ा नेता हो!

मिस्र के इस्लामी ओलियो की दरगाह की जो लोग जियारत करते हैं, उन लोगों को यही अपनी मजबूत पीठ पर बिठलाकर जियारत का सवाब हासिल करवाता है।

हमारी अभिमान-भूमि भारत के राजस्थान में भी यह जब भ्रमण करता दृष्टिगत होता है तो हाथियों की तरह पैर बढ़ाता हुआ मालूम देता है।

समस्त भारत की शोभा-भूत-वैभव-विलास नगरी मुंबई में यही प्राणी प्रजाजनों के मलिन वस्त्र लेकर गंगा-यमुना की पवित्रता से धवल कर वापिस ला देता है। अतएव यह पाप पालन करने वाले पवित्र तीर्थो की तरह पावन भी है। गुजरात-काठियावाड़ में यह 'पालक' की तरह है। अगर यह पीठ पर भोजन बनाने के पात्रों को लेकर न जाए तो मुश्किल हो जाए! इसी तरह जिसमें मनुष्य रहता है, सुख भोगता है, उस मकान-भवन-महल का निर्माण भी इसी प्राणी की बदौलत ही होता

है। अगर यह न हो तो ईंटें, रेत आदि मकान बनाने का साहित्य ही सग्रहीत न हो। इस कारण 'प्रजापतियों' का भी यह प्रजापति है।

पुरातत्त्व की दृष्टि में गदहा!

इतिहास के पन्ने उलट जाइए, वह साक्षी है कि इस प्राणी का पुराकाल में भी बहुत बड़ा सम्मान था। कई बार सवारियों का काम करके इस प्राणी ने गौरव प्राप्त किया है। जिस समय मध्य एशिया की सेमेटिक-संस्कृति का प्रखर सूर्योदय हो रहा था, उस समय दादा-अब्राहिम लिकन के इसी प्राणी ने प्राण बचाए थे!—यही-नहीं, इतिहास का नवीन पेज खोल दिया था! अरब के रेगिस्तान में वहां की रमणियां भले ही साडनियों पर सवारी करें, और लड़वैये लोग भले ही घोड़ों को अपनी बैठक बनाएं, पर अरब के अमीरज़ादे-शेरम तो आज भी अमल-धवल गदहे पर ही सवारी करके ऐंठ से निकलते हैं।

बाइबिल के अमरवाक्यों का भी मुलाहिज़ा कीजिए—"...जब अब्राहिम ने अपने बेटे का ध्यान किया तब उसने सबसे ज्यादा प्यारे जानवर गदहे की चिंता जाहिर की!"

जब दादा-अब्राहिम मिस्र गए थे तो अपनी अगणित संपत्ति के साथ लिस्ट में सर्वप्रथम गदहे का नाम दर्ज कर गए थे।

एवं प्रकारेण प्राचीनकाल से मानव-जाति की इस महात्मा गधे ने बड़ी-बड़ी सेवाएं की हैं! इस नए-गुजरे जमाने में भी देखा जाए तो गदहे की सामाजिक सेवाओं का पलड़ा किसी तरह नीचे नहीं झुक सकेगा। पर आज के इस 'अपने-अपने' के युग में, समाज-सेवाओं की कान्फ्रेंस का नेतृत्व इस 'मौन-सेवक' को कौन देगा? और न ये पत्रकार ऐसे सत्य-निष्ठ सेवापरायण का फोटो ही छापेंगे!

दक्षिण यूरोप के 'कांस्टेंटिनोपुल' से लगाकर जिनेवा तक के गांव-गांव शहर-शहर में इस पावन मूर्ति के दर्शन हो जाते हैं। इधर जिनेवा मे राष्ट्रसंघ की बैठक हुआ करती है, उधर इनकी गश्त!

स्पेनिस गल्पों-कहानियों में यह प्राणी न होता तो 'प्रहसन' का पार्ट

ही कौन पूरा करता? और उस 'अरेबियन नाइट्स' में क्या कम वर्णन हुआ है?

'गधा'-परिचय!

श्रीमान् श्री एक लाख एक हजार एक सौ एक श्री हिज़-दिवाली-नेस् गधा बहादुर से सर्वप्रथम हमारा परिचय जिस प्रकार हुआ, अगर मै उसी परिचय से इस महत्तम-प्राणी को देखता तो आज मैं उसके महत्त्वपूर्ण गुणों को जरा भी देख नहीं पाता; बल्कि मेरी शत्रुता ही हो जाती! बचपन की बात है, अभी 'गधा-पचीसी' नहीं आई थी, मैं अपने नगर के कुम्हार-बाड़े की तरफ से होकर जा रहा था, उस समय आजकल के मेरे परम मित्र रासभदेवजी के किसी जाति-बंधु ने पिछले चरण-युगलो को उछालकर ऐसी दुलत्तिया झाड़ी थी कि मैं बहुत दूर जा गिरा था। पाठकों आप सत्य मानिए कि उस वक्त मेरे दिल में बदला लेने की भयकर भावना जागृत हो गई थी। अगर रासभदेव जी वहां से नौ-दो-ग्यारह न हो गए होते तो मेरे हाथों वहां अन्याय हो जाता! जब आगे चलकर मैने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया, और प्रवास किया तब मेरे मन में इस बदला लेने की भावना के बजाय आदर-सम्मान की भावना जागृत हो गई!

'बंकिम' का सहचर!

एक बार मेरे हाथ बंकिम बाबू की निबंधमाला आ गई, उसमें इस पवित्र-प्राणी की स्तुति पढ़कर मैं उछल पड़ा! मेरे हृदय में विचार आया, जगत् के अच्छे-अच्छे लेखकों को जो प्रेरणाएं प्राप्त हुई हैं, वह सब इस 'गधे' की कृपा का ही फल है। जिस साहित्यिक प्राणी ने इस महापुरुष के विषय में कुछ न लिखा होगा, वह कदापि महत्ता नहीं पा सकेगा—यह हमारा अंतिम विश्वास है!

बंकिम बाबू की 'गधा-प्रशस्ति' देखकर भी गुजरात के सफल कलाकार मुंशी जी यदि 'मुंज' को ही 'पृथ्वीवल्लभ' कहा करें, तो उनकी समझ

की कमी होगी। हम तो गधे से अधिक पृथ्वी वल्लभ और किसी को कम ही समझते हैं। गधे का परिचय या ख्याति समस्त विश्व भर को है, जो जमीन पर चले वह 'पृथ्वी-वल्लभ', या जो जमीन को पीठ पर ले जाए वह! अगर इनकी मदद न हो तो मिट्टी तक का बर्तन नसीब न हो। रघु राजा के घर के सोने-चांदी के बर्तन दान करने में जुट गए थे, मगर मिट्टी के बर्तन न होते तो वे किसमें खाते? यह गधे का अनुग्रह नहीं है? तो इस सर्वश्रेष्ठ प्राणी को 'पृथ्वी-वल्लभ' न कहकर, एक देशीय राजा को पृथ्वी-वल्लभ कहना हिमालय-जैसी साहित्यिक-व्यावहारिक भूल है! इस भूल की दुरुस्ती तभी हो सकती है जब 'व्यास-मुनि'-प्रणीत 'गधा-स्तोत्र' का एक लाख पाठ करे, और इस पवित्र प्राणी के समक्ष एक पैर से खड़ा होकर सविनय सादर प्रार्थना करे—यह स्तोत्र सुविधा के लिए भाषा में यहां उद्धृत कर देते हैं—

गधास्तोत्र!

ओ मानव-जाति के सच्चे हितैषी, 'स्वयं सेवक'! तेरी महिमा अपार—अगाध—अमित है! मानव के साथ को-ऑपरेशन (सहयोग) करने की तेरी निष्ठा दृढ़ और महान् है, अभूतपूर्व है। तू लोक-साहित्य का जीवन है, प्रेरणा है! नदी के सुरम्य-हरित तट पर, गांवों की सीमा पर, निर्जन-नीरव विपिन में तू तांडव करता है, तेरी स्वर-लहरी से वृक्ष-लताएं आनंदोन्माद में मस्त हो झूमने लग जाती हैं। दूर-दूर तक तेरे स्वर-साम्राज्य में अन्य स्वर-संघ का प्रवेश व्यर्थ हो जाता है। तू श्रवणपुट का पर्दा खोल देता है। तानसेन की तुन-तुन का क्या मज़ाल कि तेरी शक्ति का सामना कर सके? तू बड़ा-विद्वान्-गुणवान्-चिरस्मरणीय है, मौन-सेवा करने में आज तक तेरी जोड़ का कोई न हुआ, न होगा! तेरी सहन-शक्ति पृथ्वी से कम नहीं है। तू किसी प्रकार मनसा-कर्मणा सेवा-भाव से विरत नहीं होता! तू ही सविनय अवज्ञा का प्रेरक आदर्श है। अपने शासक की विपत्तियां तू ही सह सकता है। अतएव, हे महामहिम परमार्थजीवी-समस्त विश्व के श्रेष्ठतम प्राणी! तेरे को सादर प्रणाम है!

रे-रे-रासभ! सावधान मनसे, हे मित्र! सुनले जरा!
हैं जितने घटकार पै न सम हैं, मतएक—चाराचरा!
तू-संसार-असार में शिरमणी, नेता, महात्मा बड़ा!
है तूही, बस पूजनीय जग में तुझसे न कोई बड़ा!

इस स्तोत्र का प्रतिदिन 21 बार प्रातःकाल उठते ही पाठ करने से—

भीती-भयात्प्रमुच्येत, बद्धो मुच्येत बंधनात्!
कुस्वरः सुस्वरोभूयात् मूर्खः साहित्यिको भवेत्!!

× × × ×

गधा-स्तोत्रमिदं पुण्यं यः पठेत् श्रुण्युयादपि।
इहलोके सुखं भुक्त्वा, चान्ते च सुखमाप्नुयात्।।

'कार' की करामात!

यह युग ही एक प्रकार से 'कार' का है, जिसके पास 'कार' नहीं, उसे 'बे' 'कार' कहा जाए तो कुछ हर्ज नहीं। गुजरात में 'बे-कार' के मानी होते हैं—दो-'कार' परंतु हिंदी-उर्दू के इस समन्वय-साधक-समय में हम किसी प्रांतीय भाषा के अर्थ से होने वाले "अनर्थ' को मान्य नहीं कर सकते। सो 'बे-कार' की जो परिभाषा किसी 'मौलाना' को 'दर-कार' होगी यही मानी जाएगी। क्योंकि यही 'कार'-'कार-सर-कार' है, सरकारी-'कार' का सत्कार सभी जगह होता रहा है' और होता रहेगा। फिर वह चाहे 'अंग्रेज़ी-सरकार हो या कांग्रेसी-सरकार!! अंतर दोनों सरकारों में केवल 'डडे' का है, 'कार' तो 'एकाकार' ही है। आज अवश्य ही इस झंडे का झगड़ा चल पड़ा है, पर 'चक्र' और 'चर्खे' की चख-चख में, हमें नही पड़ना है। हमें 'केवल 'कार' से मतलब है। अंग्रेजों की जात बडी चुस्त-चालाक रही है, उन्होंने किसी को सम्मान भी दिया तो 'सर' का दिया, 'कार' उसमें से भी 'काट' ली है। 'कार' कम लोगों की ही रही है, जहां 'अधि' 'कार' रहा है। सरकार कोई भी पलटे, उसमें 'सरकार' शब्द, समान ही रहेगा। इसलिए कोई भी उसका 'तिरस्कार' कभी नही कर सकता। सरकार के बाद अगर किसी का सत्कार हुआ है तो वह 'साहू-कार' का है। भले ही सभी 'अधिकार' 'सरकार' में समाविष्ट हो, पर 'कार' शब्द जिस नाम-छंद के साथ जुड़ेगा। उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही होगा, 'फिर 'साहू-कार'—की 'हस्ती' तो स्वतंत्र है, वह किसी भी 'कार' के कुटुम्ब में पहुंच कर सम्मान कार्य का अधिकारी हो सकता है! अवश्य ही आज अंग्रेज़ी शासन के जमाने में जन्म लेने के कारण 'कारों' के

नाम भी धर्मांतर 'कर लेने वाले 'राम' के 'रहिमतुल्ला' की तरह हो गए हैं, उनमें सभी विदेशी सरकारों ने अपनी पैठ जमा ली है, फिर इस तरह 'कार' का अंतर राष्ट्रीयकरण भी हो गया है। फिर चाहे वह अमेरिकाकार हो, जर्मनकार हो, या फ्रेंच, जापानीकार हो, परंतु सभी के पीछे लगा हुआ 'कार' शब्द आर.एस.एस. की तरह भारतीय संस्कृति का सूचक अवश्य है। क्योंकि जिस तरह हमारे पूर्वज पुष्पक विमान में बैठा करते थे, उसी तरह आज के 'डकोटा' जहाज में भी बैठते आ रहे हैं। 'कार' की परंपरा भी परम पुरातन है। नाम के निरंतर-अंतर पड़ते जाने से रूप-स्वरूप का भले ही भेद भ्रमित कर दे, किंतु 'कार' की कथा कलि-काल से अवश्य पहिले की ही है, आज की 'कार' चाहे लेंडो, चांसलर, मास्तर मनोहर-मॉडल-मंडित हो, और उसके लघु वृहत् रूप में, भेदभाव भी हो, किंतु भारतीय 'कार' का काल पुरातन सिद्ध किया जा सकता है। हम किसी आर्य-समाजी की तरह वेद में से दिलासलाई नहीं निकालना चाहते, और न रघुवीर की तरह नवीन शब्दों का 'संविधान-या प्रारूप' का निर्माण ही। हम केवल 'कार' शब्द की परंपरा से ही यह साबित करने के लिए सन्नद्ध हैं कि इस वाण का अस्तित्व कितना पुराना और भारतीय-संस्कृति से सीधा संबंध रखता है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं कि आज की 'कारों' के नामों में केवल 'संस्कार' के विदेशी होने से ही 'हड्सन् हिमलर, रोल्स, स्टैंडर्ड, आस्टीन, शेवर्ले, केडलर, केसलर डिमलर, डिसौटा, मिजो, एडलर, जापान, पेकार्ड आदि हुए हैं, परंतु इन नामों के साथ सर्वत्र जो 'कार' शब्द जुड़ा हुआ है। वह सूचित करता है कि यही मूल है, और ऊपर के नाम (आरंभिक नाम) व्यक्ति देश-या संस्था से संबंधित हैं। 'अंग्रेजी' 'सर-कार' के कारण ही इन उप-नामों का 'कार' के साथ प्रयोग हुआ है। ऊपर की नामावली में दिए हुए अनेक नाम विलायत में हजारों आदमियों के रहते हैं, इसी कारण यह नामांतर उनके सहयोग से हुआ ही, पर भारत हमारा देश जगत् में सबसे पुरानी संस्कृति रखता है। जब दुनिया के दूसरे देश-वासी, जंगल में नंगे घूमते थे, तब हमारे देश में सभी तरह के साधन विद्यमान थे। यह तो नहीं

हो सकता कि और देश 'कार' में सवार होकर सरल सफर करते हों, और हमारा उन्नति के शिखर पर पहुंचा हुआ यह पुराना सफर करते हो, और हमारा उन्नति के शिखर पर पहुंचा हुआ यह पुराना देश कही जूतियां चटकाता फिरता होगा। यहां भी वायु-वेग वाले रथ रहे हैं, वायुयान रहे हैं, जो देश वायुयानों के वाहन रखता रहा है, वह 'कार' की करामात न जानता हो यह कभी नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि पुराने जमाने के जंगल में बसने वाले मुनि-महर्षिजन भी इसीलिए सदा 'ओं-कार' की निरंतर साधना (सुविधा) रखा करते थे, इस 'कार' के द्वारा बात की बात में चाहे जहां की मनचाही सैर करते, और करा सकते थे कि 'ओं-कार' परमानंदम् यह उस समय की राष्ट्रीय 'कार' थी, और सर्व-सुलभ थी। हर कोई 'ओं-कार' का आनंद ले सकता था, मालूम होता है कि इस उद्योग का उस समय राष्ट्रीय-करण ही हो सकता था। पहली 'कार' हमारी समझ में ओं-'कार' ही थी। फिर भी इस 'कार' के कार्य में आज के सुधार की तरह बड़े-बड़े गजब के सुधार हो गए थे, उनमें 'निरा-कार' निराली ही होना चाहिए, इसका कोई आकार नहीं होगा, और गुप्त रूप से इसमें अदृश्य होकर सफर की जाती होगी, सुधार के इस युग में भी बिना-आकार-प्रकार की कोई भी 'कार' अब तक नही बनी है। यह श्रेय पुराने ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क के लिए आज भी 'रिसर्च' है, 'निरा-कार' की तरह 'साकार' तो थी—ही। पर बड़ी-बड़ी बसों की तरह उस समय अवश्य ही वह विशाल 'कार' होगी। जिसे 'साक्षात्कार' कहा जाता होगा, आगे तो जब यह 'कार' चल पड़ी होगी तो अनेक सुधार विकास हुए ही होंगे। सो इतने अधिक 'कारों' के नाम मिलते हैं जैसे कि आज भी है—लेकिन पुराने नाम तो अपने देश की आध्यात्मिक-या सांस्कृतिक-परंपरा के अनुरूप ही होने को थे, इसीलिए पहली कार को भी 'ओंकार' ही नाम दिया गया था। और नाम, जैसे कि—

चमत्कार, आकार, प्रकार, विकार एकाकार, सत्कार, अधिक, फूत्कार (ज्यादा आवाज वाली-कार) पुकार, निर्वि-कार (यह प्रथम श्रेणी की कार

थी जो जीवनभर बिना बिगड़े चल सकती थी), संस्कार, नमस्-कार, पुरस्-कार, (नाम पाई हुई), चर्म-कार (यह चमड़े की बाड़ी की थी,) सा-कार, हुंकार, (आवाज वाली), कुंभ-कार (यह मिट्टी के खिलौने वाली), सहकार, इन कारों के ऐसे हजारों प्रकार हो गए थे, पर पीछे-पीछे जब 'तिरस्-कार' बनी होगी तो मालूम होता है—पुराने लोगों को 'कारों' से नफरत आ गई होगी। और 'जीप' की तरह इसका थर्डक्लास-स्वरूप देखकर कार का कारखाना बंद कर दिया होगा, यों एक्का-दुक्का कारें बनती रही होंगी, पर फिर उन्हें उतना महत्त्व नहीं दिया गया होगा, हां, मुगल-युग में 'धिक्कार और 'मक्कार' भी बनी, और खूब प्रचलित भी हुई। पर जो मान ओंकार, निराकार, निर्विकार, साकार आदि को आदि आध्यात्मिक-युग में मिला, वह बाद में किसी को न मिला, जिस तरह पुराने शास्त्र-ग्रंथों, कला कौशलों का धीरे-धीरे नाश हुआ, इन कारों का भी वही हाल हुआ। अवश्य ही अंग्रेजी युग में देश के सु-संस्कृत-समाज में—ग्रंथ-कार, काव्यकार, साहित्य-कार, पत्र-कार, फट-कार, एका-कार, आदि का प्रसार हुआ पर पराई सर-कार ने इन्हें कोई प्र-कार का सह-कार नहीं दिया, बल्कि धिक्कार, और तिरस्कार से सत्कार किया! और मौका पाया तो कारागार (कारागृह-ग़ैरेज) में पटककर बेकार ही कर दिया! किंतु यह मान लेना होगा कि 'कार' के हमारे संस्कार पुराने चले आ रहे हैं, जिन्हें यह नसीब नही होती उन्हें हम-आप सभी सहज धिक्कार करते हैं!

अंधेरा चेहरा-उजाला चेहरा

हमारे ऋषि-मुनि दाढ़ी और जटाजूट रखते थे या नहीं, यह ठीक पता लगाना कठिन है। हज़ारों साल की बात हो गई, पर तीन सौ साल पहले के बाबा तुलसीदास भी दाढ़ी-मूंछ वाले थे, यह हम उनके बनें हुए चित्रों में देखते हैं, मुगल बादशाहों के मुंह पर भी दाढ़ियां रही हैं, वे शासक भी थे, अकबर, जहांगीर, शाहजहां के चेहरे पर तरतीब से कटी-छंटी दाढ़ियां लगी रहती थीं, और वह शानदार भी दिखाई देती थीं। इतिहास के लेखक, और जानकार कहते हैं कि ये बड़े शानदार-शासक थे। पुस्तकें पढ़कर हम पर भी यही असर होता है। राजपूत राजा-महाराजा भी चेहरे पर भव्य दाढ़ी रखते थे, वे शूरवीर, योद्धा थे, कुशल एवं लोकप्रिय शासक भी थे, इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि दाढ़ी में कोई ऐसे दुर्गुण नहीं कि शंका की गुंजाइश हो। स्वतंत्रता के बाद अवश्य ही कई बातों का अवमूल्यन हुआ है। विचार-व्यवहार-स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ है। किंतु हम समझते हैं, दाढ़ी इन परिवर्तनों से दूर रही है। शायद आशंका इसलिए हुई हो कि दाढ़ी-दार प्रताप सिंह कैरों जैसे देश-भक्त, और प्रशासक को महज़ दाढ़ी होने के कारण ही पदभ्रष्ट होना पड़ा, या मास्टर तारासिंह की दाढ़ी ने ही उनकी मति में मलिनता ला दी हो। अथवा सरदार स्वर्णसिंह की दाढ़ी ने हमारी विदेश नीति में उलझनें उत्पन्न की हों। समाज-वादी नेता अशोक मेहता भी दाढ़ी वाले हैं। क्या महज़ दाढ़ी होने से ही योजनाओं में उलझनें सामने बढ़ने लगी हैं, या कालाबाज़ारी होने लगी है? हम तो ऐसा नहीं समझते। जहां तक प्रताप सिंह, और मा. तारासिंह का मुकाबला था, वह दोनों दाढ़ियों का ही था। पर संत फतेसिंह की

फतेह में तो सीधी दाढ़ी की ही करामात मालूम होती है। वे 'सूबा' ले ही बैठे, चाहें तो वे 'क्यूबा' भी ले सकते हैं। परंतु फिडेल कास्ट्रो वहां पहले ही दाढ़ी लगाए हुए जमे बैठे हैं। यदि सरदार स्वर्ण सिंह और अशोक मेहता को उलझनों का शिकार बनना पड़ता है तो उसका कारण दाढ़ी नहीं, महज़-सरकार है किंतु कुछ दिनों पूर्व ही एक पुलिस अधिकारी ने दो दढ़ियल पुलिस को महज़ इसलिए अयोग्य समझा, और अक्षम बतलाया कि उनके चेहरे पर दाढ़ी है। संभव है कि वे अपने मिनिस्टर स्वर्ण सिंह की दुहाई देते तो शायद यह नौबत नहीं आती। पर अब यह सवाल पेश है कि जैसे कुछ शब्द 'पार्लमेंटेरियन' परिभाषा में नहीं आते, क्या दाढ़ी के लिए भी ऐसा कोई फतवा लिया जा सकता है? हमारी पार्लमेंट से तो यह इसलिए उम्मीद नहीं कि जहां दाढ़ी वाले स्पीकर सरदार हुकुम सिंह जैसे शानदार व्यक्ति हुकूमत करते हैं। वहां बिना दाढ़ी वालों की दाल गलने की उम्मीद नहीं है। हां, हाल ही में विदेश में एक दढ़ियल अमेरिकन मेंडिसोन के रेस्तरां में ठहरने गया था। उसे महज़ दाढ़ी होने के कारण वहां ठहरने नहीं दिया गया, उसने मानवाधिकार समिति के समक्ष शिकायत की, तब इस समिति ने सभी कानूनी किताबें पलट डालीं। फिर भी उसको रक्षण देने वाली कोई धारा उसे नहीं मिली, तब उसने यह घोषणा की कि—'कानून यही कहता है कि किसी व्यक्ति को उसकी जाति रंग या धार्मिक विश्वास के आधार पर रेस्टरां में ठहरने से इनकार नहीं किया जा सकता है, लेकिन किसी दढ़ियल को ठहराने से इनकार करना गैर-कानूनी नहीं, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।' इस फतवे के बाद स्पष्ट हो जाता है कि दाढ़ी को कोई कानूनी संरक्षण मिलना कठिन है। ऐसी हालत में विदेशी सहायता पर निर्भर रहने वाले योजना-मंत्री अशोक मेहता को सावधान हो जाना चाहिए कि वे यदि उस देश में जाएं, दाढ़ी मुंडाकर ही जाएं। विदेश-मंत्री स्वर्ण सिंह तो 'दाढ़ी-धर्म' को मानने वाले है। उनके लिए वहां कोई जगह नहीं होगी। हमें अब यह आशंका होने लगी है कि अवमूल्यन के कारण अकस्मात् महंगाई का ज्वार आया है। वह यदि किसी तट पर जाकर न टकराए तो हमारा सारा देश ही पुनः

ऋषि-मुनियो का भारत बन जाएगा। नाइयो ने हजामत की कीमत बढ़ा दी है। उनकी मान्यता हो गई है कि हमारा शरीर भले ही भारत में ढला हो, पर सिर हर हालत में विदेश से आया हुआ है, इसलिए बाल बनवाई बढ़ जाना चाहिए। फलतः भारतीय लोग भी सोचने को बाध्य बन रहे हैं कि 'हिंदू, सिख भाई-भाई' को सार्थक बनाने के लिए दाढ़ी और जटा को स्थायी स्वरूप देना होगा।

जूता और ज़बान

जूते और जबान का चोली-दामन का संबंध रहता है, जूता भी चलता है और ज़बान भी चलती है। चलना दोनों का स्वभाव होता है, पर जब तक ज़बान मुंह में रहकर मर्यादा में चलती है, तब तक जूता चरणों मे चलना चाहता है। किंतु ज़बान अपनी मर्यादा छोड़कर चलने लगे तो जूते को भी जगह छोड़कर चलने को मजबूर होना पड़ता है। यदि ज़बान सीधी सीमा पर चलती रही तो जूता राह देख सकता है। वह पुरुष जाति का है, उसमें सहज गंभीरता और सहिष्णुता है। जबान नारी जाति की ठहरी, वह चंचल हो तो आश्चर्य नहीं पर जब नारी अपने नेतृत्व में निराश हो जाती है तब उसकी लज्जा रखने के लिए, मर्यादा रखने के लिए जूते का जोर जमाना पड़ता है। सदा से नारी की शील-रक्षा की ज़िम्मेदारी नर पर रहती आई है, सो जूते को भी अपनी जोरू की मदद के लिए चलकर ऊपर उठना पड़े तो अस्वाभाविक नहीं। वैसे जूता अपने स्वभाव मे इतना सरल और सीधा है कि चरणों से चिपका रहता है, घर की देहली के बाहर ही पड़ा रहना पसंद करता है। यूं हमारी संस्कृति पर नई सभ्यता के हमलावर ने उसे भले ही नष्ट किया हो पर असली जात और विलायती जूते को ज़बरदस्ती जाजम तक जाने को प्रोत्साहित किया हो, पर असली जात के देशी जूते को अब भी यह जुर्रत नहीं कि वह देहली लांघकर द्वार के अंदर दाखिल हों, उसे अपने बल का पूरा भरोसा है, वह बाहर रहकर भी स्वयं सुरक्षित रह सकता है और दूसरों को पसंद आ जाने पर भी आत्मरक्षा करने की उसमें क्षमता है। किंतु जबान औरत की जात की ठहरी, उसे तो मुंह के मकान में बंद मर्यादा का मान रखना पड़ता है,

वह अकर्मण्य नहीं रह सकती, उसका जीवन ही चलना है 'चरैवेति-चरैवेति' का सिद्धांत उसी को लेकर बना है, और उसे कोई संगी-साथी की भी जरूरत नहीं है, वह अकेली भी रह सकती है। महाकवि रवीन्द्र ने इसी से कहा है कि—एकला चलो रे, एकला चलो रे।

परंतु जिस मुंह की मर्यादा भंग हो जाए, दरवाजा खुला रहने लग जाए, तो वही जबान जो दबी रहती है, स्वेरिणी कोई जूता चुलबुला-कोई चमकदार गद्देदार और मखमल-सा मुलायम होता है तो कोई कील कांटो से कसा क्रूर कड़ा भी होता है—बनकर मुंह के मार्ग से दो हाथ बाहर निकलकर चलने लग जाती है। एक बार मर्यादा टूट गई तो वह मनमानी पर उतर आती है फिर उसे पकड़ने का साहस कौन कर सकता है। एक बार जूता संयम तोड़ दे तो उसे संभालकर जवाब मिल सकता है, चलते हुए को रोका भी जा सकता है। कोई भलामानस बीच-बचाव कर चलना बंद भी करा दे या जाति बंधु को मुकाबले देखकर वह मुंह की खा जाए, पर जबान को पकड़कर रोकने का पुरुषार्थ किस माई के लाल में है? वह स्वयं ही समझदारी से अपनी मर्यादा मानकर रुक जाए तो रुक जाए, वरना वह बल बतलाने पर ही उतर जाए तो सवा हाथ की बन सकती है। जिसे जबान की लज्जा, उसकी मर्यादा देखने समेटने की सत्ता आज तो 'वाणी स्वातंत्र्य' के युग में किसी की नहीं है। औरत की जात काबू के बाहर हो जाने पर किसके बस में रह सकती है? किसका साहस कि मुंह लगने की हिम्मत करे?

उसका शहद की तरह सीरी छौना भी उतना ही मशहूर है, जितना तलवार की तरह तेज तर्रार होना मशहूर है। जबान के और जूते की कथा से बड़े-बड़े इतिहास और पुराण के पोथे भरे पड़े हैं। महाभारत का महाभारत और सारी रामायण उसकी साक्षी हैं जबान की जीवनी साधारण नहीं है। हर एक जबान पर वह जिंदा है। वह चमरखे से लेकर बाटा के चुलबुले चमकदार गुल-गुद्देदार मखमल से कड़ा मुलायम होता है। तो मिट्टी के कील कांटों से कसा क्रूर कड़ा भी होता है। बादशाहों-बेगमों के कुसुम-कोमल चरणों की मृदुता की रक्षा का भार यदि वह वहन करता है

तो खेत-खलिहानों और कंकड़ कांटों के कुबल की सामर्थ्य भी उसमें है, उसका भी कुल-शील, जाति-वर्ण, मान-मर्यादा, भेद हैं। परंतु उसका अपना धर्म अवश्य एक ही है—चरण सेवा। प्रभाव की दृष्टि में तुलनात्मक रूप से तोला जाए तो जबान का सीधा असर दिल में ही होता है, वह कलेजा काट सकती है, दिल पर घाव कर सकती है,-कि कोई घाव का मिजाज मरहम भी नहीं संभाल सकता और उसका वार, सीधा एक पर ही क्यों न हो, असर से सारा खानदान तड़पता है।

अंग्रेजों ने भले ही एक भारत का विभाजन किया हो, पर जबान की वह ताकत है कि उसके जरा से चलने पर ही अनेक घरों में अनेक पाकिस्तानी विभाजन बनते-बिगड़ते आए हैं। मर्मभेदी मंत्रों के प्रयोग का सभी को कायल बनना पड़ा है, जूते की प्रगति का भी अपना स्वतत्र इतिहास है, वह पैर से प्रगति करके सीधा सिर पर सवार होता है, यह उसकी नम्रता की परकाष्ठा ही समझिए कि वह सरलता और विनयवश सदा पैरों में ही पड़ा रहना पसंद करता है। दरवाजे के बाहर पड़े रहने मे समाधान समझता है, परंतु अति विनम्रता की अवहेलना करने पर यदि वह जरा ही रुख बदल दे तो सिर पर सवार समझिए।

सिर पर सवार होने के लिए जूते को जोर आजमाना पड़ता है बाबा तुलसीदास ने कहा है कि—

'अनल प्रकट चंदन ते होई'

इसी विनम्रता और आत्म-विस्मृत भावना पर मुग्ध होकर हमारे साधु-संतों ने उसे पैर लगाना छोड़ दिया। और यही नहीं वे—गुरुचरण-पादुका की पूजा तक करने लगे। इन चरणों ने उन पादुकाओं को पहना, उन चरणों को धोकर चरणामृत पीने लगे हैं। बड़े अवतारों, तीर्थंकरो, पवित्र पुरुषों ने अपने समाज में अहिंसा का आचरण करने को बाध्य बनाया। अपने साधु समाज में निषेध पूर्वक जूते का चलन बंद करवा दिया। महात्मा गांधी का सत्याग्रह आंदोलन अफ्रीका से लेकर इस देश में जूता चलने की रोक के लिए ही चलाया गया था। राजनीति सीख में जूता चलना जायज है। फिर जूता चलने को उन्होंने रोका, जूते के स्वभाव

को पलटने, संयम की दीक्षा देने के लिए उन्होंने जूते की चिर-संगिनी जबान को संपूर्ण स्वतंत्रता दे दी कि वह चलती रहे। अपने बल पर समाज का उद्धार कर सके। जूते को और आजमाइश न करनी पड़े? हां जबान को संयम का सहारा न छोड़ने की सीख अवश्य ही रही है कि वह मर्यादा मे रहकर महत्त्व स्थापित करें। इस देश के ठीक विरुद्ध पाकिस्तान के सस्थापक मियां जिन्ना ने जहां जबान की जन्मजात स्वतंत्रता प्राप्त थी—वहां जूते के चलन का खुला अवसर प्रदान कर दिया। हमारे देश में विदेशी जबान का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ है। पर देसी जबान धड़ल्ले से चलने लगी है। सरकार ने भी इस जबान को संरक्षण दिया है हालाकि पार्लियामेंट में अभी कई जबानें चलती हैं, विदेशों को भी अब तक बडा विश्वास बना हुआ है किंतु देसी जबान की दौड़ देखकर वह दंग जरूर है।

जबान ने तो अपनी समस्या किसी तरह सुलझा ली, सरकार ने मनवा लीए किंतु हमारे जूते का जोर जितना चाहिए उतना नम नहीं पा रहा है। कुछ संप्रदायवादियों ने जरूर उन्हें संभाल रखा है, वह मौका देखकर उसका चलन करना चाहते हैं, सरकारी संयम के सामने उनके जूते का जोर जम नहीं पा रहा है पास-पड़ोस के जूता-जोर को देखकर उनका जूता भी जोर आजमाइश करना चाहता है। किंतु हमारा अहिंसक अस्त्र इस संस्कृति को प्रोत्साहित नहीं होने देता। फलतः हमारे यहां आज जितनी जबान को चलने की स्वतंत्रता है, इन नगरों के जूते खूब चलते हें। आज तो इन नगरों का यह उद्योग बड़ा ठंडा पड़ गया है, उसके लिए सरकारी सहयोग की आवश्यकता पड़ गयी है। तहत हाल ही मे उत्तर प्रदेश की सरकार ने थोड़ा सहयोग देकर इस उद्योग को जिंदा रखने के लिए जिंदा-दिली का परिचय दिया है।

फिर भी इतने-से सहारे से जूता जीवित रहकर चलता नहीं रह सकता। जूते का चलन इतना कम पड़ गया है कि मशहूर जूतेबाज बाटा को अपने पटना-अमृतसर और कलकत्ता के कारखाने सहसा बंद कर देने पडे। देखा तो नहीं, सुना है कि उनके पास जूतों का पर्वत की तरह ढेर

जमा हो गया है, कोई मर्द उन्हें हाथ में उठाने को तैयार नहीं है। यह कितने आश्चर्य और खेद की बात है अहिंसक सरकार यह किस संस्कृति की ओर जा रही है! कोई भी स्वीकार.करेगा कि बाटा का जूता कितना अधिक लोकप्रिय है कि उसे अवश्य चलते ही रहना चाहिए। सरकार को सहारा देकर बाटा का बल बढ़ाना चाहिए, किसी भी तरह यह जूता चलता रहा तो इस देश की जनता को समय पर कष्ट का सामना नहीं करना पड़ेगा। बाटा को घाटा रहा तो जूते का जीवन खतरे में पड़ जाएगा, न माने तो संघ के स्वामी श्यामाप्रसाद जी से सलाह कर ली जाए। जूताप्रेमी जनता का ख्याल तो सरकार को रखना ही होगा। बाटा ने जूता चलाकर गरीब-अमीर में इसके प्रति लोकप्रियता बढ़ा ली है। जिस जूते के चलने से प्रेम पैदा हो उसे तो अवश्य चलना चाहिए, सरकारी संरक्षण भी मिलना चाहिए। आज दो मत नहीं कि इस देश में बाटा से बढ़कर दूसरा कौन सफल जूतेबाज है। किसी महाकवि ने ठीक ही कहा है—टाटा बड़ा लुहार है, बाटा बड़ा चमार है।

कहिए, क्या समझे

यह कहावत मशहूर है कि 'आप लिखे और खुदा बांचे' यह कहावत सर्वकालीन सिद्धांत है।

जिस समय लोग बहुत कम लिखे-पढ़े होते थे, तब जो थोडे पढ़े-लिखे रहते वे अपने को आलिम-फाजिल समझते थे, और उनके वक्त जो शिला लेख, या ताम्रपत्र खुदाए जाते थे, उन्हें पढ़ना हर एक की हिम्मत का काम नहीं होता था। पर आज तो जमाना बहुत आगे बढ चुका है। बे-पढ़े-लिखों का जमाना गुज़र चुका है। आज उस मुकाबले मे बहुत ज्यादा लोग, और लुगाइयां—पढ़ी-लिखी हैं। पर आज भी उस गुजरे जमाने के लिखे शिलालेख पढ़ना, पढ़े-लिखे औसत आदमी के बूते का काम नहीं है। महज़ कुछ गड़े मुर्दे खोदने वाले ही शायद उन लेखों को पढ़ पाते हों। ज़्यादा पढ़-लिख लेने से ही पंडिताई पल्ले नहीं पड जाती। फिर आज के पढ़े-लिखों के ही कितने हस्ताक्षर सुंदर-सुघर होते हैं कि हर पढ़ा-लिखा पढ़ ले? तभी तो कई पत्र संपादकों ने नीति निर्धारित कर ली है कि वही लेख उनके पत्रों में प्रकाशित हो सकेंगे जो लिखने के बाद ज़र-खर्च कर टाइप करवाए गए हों, इस तरह लेखकों पर भी अनायास 'इनकम टैक्स' कायम हो गया है, टाइप करवाने का और फिर मिलने वाली रकम में से मनीऑर्डर खर्चे की रकम कट जाने का, और कहीं वापिस 'सधन्यवाद' आ जाए तो मूलधन ही बट्टे खाते में! तथा टाइप का खर्च 'सूद' में अलग! हमारे कई मित्र ऐसे हैं जिनके पत्रों को पढ़ने के लिए पर्याप्त समय, और संयम भी लगता है। और फिर भी कुछ बातें समझ में नहीं आती हैं। कुछ को संदर्भ से जूझना पड़ता है,

तथा कुछ का मतलब समझ में नहीं आता। हमारे एक स्नेही बड़े विद्वान् हैं। उन्हें कई डिग्रियां मिली हुई हैं। उन पर ज्ञान का बोझ इतना बढ़ा हुआ है कि उनका हाथ हल्का नहीं पड़ता, छोटे शब्द ठीक जम नहीं पाते। फिर छोटी बातों की क्या हिम्मत कि उनके सामने जमने का साहस कर सकें? जब वे कुछ लिखने की कृपा करते हैं, तो उनके उखड़ते अक्षर भागने से लगते हैं। हमें उन्हें पहचानना मुश्किल होता है। जब हम उनका पत्र वापस उन्हीं के पास पहुंचाकर पूछते हैं कि जनाब, आपने क्या कहा है, ज़रा स्पष्ट कर दीजिए, तब वे शर्मिंदगी, के साथ बतलाते हैं कि भई, उस वक्त पता नहीं कौन से विचार आ रहे थे आज तो मै स्वयं नहीं समझ पा रहा हूं कि मैंने क्या लिखा था? अब आप ही कहिए कि जब वे विद्वान् ही अपने व्यक्त विचारों को दूसरी बार पकड़ नहीं पाए तो हम उन्हें कैसे पहचान सकते हैं?

खैर पुराने जमानों में अलग-अलग टाइम पर लिखने की पद्धति अलग-अलग रही, पलटती रही, इसलिए आज के ज़माने में उनके जानकार खोजना जानमारी करना है। पर आज के जमाने में चाहे 14 भाषाएं संविधान में स्वीकृत हों, उन्हें देवनागरी, या रोमन में लिखा जाए तो न वे 'ब्राह्मी' बन सकती हैं न लैटिन-ग्रीक ही। पर उनके लिखने वाले आज के सुधरे हुए, प्रगतिशील युग के व्यक्ति भी जब लिखने बैठते हैं तो लगता है कि कहीं ब्राह्मी या खरौष्ट्री के खानदान से तो ये सीधे उतरकर नहीं आ रहे हैं। उनके पत्रों के पढ़ने के लिए, पुराने शिलालेखों को पढ़ने का अभ्यास जरूरी होता है। फिर भी यह समस्या बनी ही रहती है कि किस काल की लिपि का कितना अंश इनकी लिखावट में है। पढ़नेवाले की मुसीबत तो समझी जा सकती है, किंतु जिन्होंने इस मुसीबत को ईजाद किया है, वे ही जब दूसरों के लिए पैदा की हुई मुसीबत को अपनी ही मुसीबत मान लें तो बड़ी हैरानी होने लगती है।

खैर छोड़िए भी, 'आप लिखें और खुदा बांचे' वाली कहावत आज सच होते हुए भी इतनी पुरानी पड़ गई है कि उसका महत्त्व

नहीं रह गया है। अब नई कहावत तैयार हो गई है—'आपकी आवाज़ आप ही को न सुनाई पड़े।' आप कह सकते हैं कि इसमें क्या नयापन है? क्योंकि जो बहरा होगा वह दूसरों की ही नहीं, अपनी कही हुई बात खुद नहीं सुन पाएगा। जी हां, बात ठीक है, पर विज्ञान ने इसमें थोड़ा सुधार कर दिया है, कान में एक मशीन लगा लेने से बहरा भी दूसरों की और अपनी बात सुन लेता है। लेकिन बहरे न होते हुए भी आपकी कही आप न सुन पाए, यह बात नई ही है। आप रेडियो ऑफिस में जाइए, आपका कोई 'टाक', ब्रॉडकास्ट होने वाला हो, आप मशीन के समक्ष बोल रहे हैं, पर आप अपनी आवाज़ नहीं सुन पा रहे है। जब कि आपकी आवाज़ दूर-दूर तक फैलती जा रही है। आपने कागज़ उठा लिया तो उसकी हल्की-सी आवाज़ भी न देखने वाले सुन-समझ रहे हैं। आपने खांस दिया—हजारों लोग उस खांसी को सुन लेते हैं, और बाहर की बात का आपको कोई पता ही नहीं लगता, लोगों पर आपकी बातों की क्या प्रतिक्रिया हो रही है, यह भी मालूम नहीं हो पाता। जब हम रेडियो पर कुछ बोलते हैं, तब हमारा ध्यान कागज पर केंद्रित होता है, बोलने की ओर सीमित रहता है, इसलिए बोलने के समय हम अपनी ही आवाज़ सुन नहीं पाते। काश हमने रिकॉर्ड करवा दिया हो तो जब वह चलाया जाए, अपनी आवाज हम सुन सकते हैं। यदि हमें सुनने का मौका नहीं मिला तो लोगों ने, जो हमारी बात सुन सकते हैं, पर अपनी 'आवाज़' नहीं। तो यह नई कहावत सही हो गई न कि—'हम अपनी ही आवाज़ नहीं सुन पाते' जिस तरह 'हम अपनी लिखावट खुद नहीं पढ़ पाते'। मतलब यह कि अपना लिखा दूसरों को पढ़ना पड़ता है, वह दूसरों की मुसीबत बन जाता है। इसी तरह अपना कहा दूसरों को सुनना पड़ता है। चाहे वह मुसीबत बने या मनोरंजन। हम अपने आप उससे मुक्त रहते हैं। संस्कृत-साहित्य के नाटकों में एक 'स्वगत' है, उसे पात्र अपने लिए ही बोलता है, परंतु वह 'स्टेज' पर बोलता है इसलिए वह—'स्वगत' भी सर्वगत (सभी के लिए) हो जाता है। ठीक उसी तरह ब्रॉड-कॉस्टिंग

के कमरे में कहा हुआ—'स्वगत' भी बाहरी दुनिया में व्यापक हो जाता है, अवश्य ही स्वगत सुनाने के लिए नहीं होता, फिर भी दर्शक सुनते हैं, और ब्रॉड कॉस्टिंग का एकांत कथन तो अपने लिए उतना नहीं, जितना दूसरों के लिए ही होता है। यह स्वगत—स्व-गत न होकर पर-गत (या सर्व-गत) होता है।

भग्न-पादुका-पुराण

आज से ठीक एक हज़ार वर्ष पूर्व महा-गुजरात की राजधानी माटूंगा में चिराग-अली चिश्ती नाम के हिंदी के महाकवि रहते थे। उन्होंने शुद्ध हिंदी में 'मटेरिया-मेडिका' नामक महाकाव्य का निर्माण किया था। जब पहली बार इसकी कुछ क़विताएं माटूंगा के महाराज कन्हैया लाल मुंशी के दरबार में उनकी वर्ष गांठ के दिन भरे दरबार में सुनाईं तो वे अत्यंत प्रसन्न हो गए। अनेक प्रकार के पुरस्कारों से चिश्ती साहब को प्रसन्न कर दिया, और यह इच्छा ज़ाहिर की कि रोजाना शाम के समय एक सर्ग हमें सुनाया जाए। कवि यही चाहते थे।

रोज़ाना शाम को गिने चुने दरबारी रसिक जन महाराजा के कक्ष मे जुड़ते और चिश्ती साहब अपनी कविता का पाठ करते जाते थे। वे इस तरह कई सर्ग सुनाते गए। उनके सर्ग के नाम थे—'बेरनी वसलात', 'कोनों बांक', 'काकानी राशि', आदि। काव्य पूरे अठारह सर्ग का था, कई महीनों तक इसका पाठ चलने वाला था, महाराजा को इसमें बडा मजा आ रहा था। सहसा इस रंग में भंग पड़ने का अवसर आ गया। 'कोनों बांक' सर्ग का पारायण हो रहा था, तब एक चोबदार ने कक्ष के द्वार पर पहुंचकर महाराजा से जरूरी मिलने की आज्ञा चाही। महाराजा ने अपने पास बुलवाकर पूछा कि ऐसी क्या बात हो गई कि इसी क्षण तुमको यहां पहुंचना पड़ा। सिर झुकाकर चोबदार ने अर्ज किया कि श्रीमन्। इसी क्षण रूस-देश में अंतरिक्ष-यान के द्वारा एक दूत माटूंगा में उतरा है, और कहा कि 'स्वप्नदर्शी' महाराजा मुंशी जी के पास जो 'भग्न-पादुका-पुराण' की पोथी है, उसे रूस की सरकार देखने को अत्यंत उत्सुक है।

उसमें उनकी जन्म-कुंडली का भविष्य लिखा हुआ है। इस समय चीन के साथ रूस की दो-दो चोंचे चल रही हैं। इसलिए वे चाहते हैं कि उसका नतीजा निकालकर देखा जाए और वैसी कार्यवाही की जाए।' दूत का कहना है कि यदि पुस्तक लेकर स्वयं महाराज मुंशी जी रूस पधारें तो उन्हें बहुत खुशी होगी, वे हर तरह स्वागत करने को तैयार हैं। महाराज ने सारी बात सुनकर सभा समाप्त की, और भग्न पादुका-पुराण की पोथी निकालकर पहले अपना भविष्य देखा। उसमें पेज पलटते ही लिखा मिला कि माटूंगा के महाराजा मुंशी जी की अंतरिक्ष-यात्रा होगी ओर वे ऋषि-लोक में पहुंचकर संन्यास प्राप्त करेंगे। यश और धन भी प्राप्त करेंगे, तथा वहां भारतीय विधा भवन की पुख्ता नींव डाल चपाती-चिंतन (चौपाटी-चिंतन) कर सकेंगे।

महाराजा ने भविष्य पढ़कर तुरंत तय किया कि हम कल प्रातःकाल अंतरिक्ष यान से ऋषि-लोक जाने को तत्पर हैं। यह सूचना रूस से आए दूत को दे दी गई। यह भी तय हुआ कि मटीरिया-मेडिका-महाकाव्य के अमर-सृष्टा कवि भी इस मात्रा में साथ जाएंगे। तदनुसार रातोंरात पूरी तैयारी की गई। प्रातः काल पौने पांच बजे उस आगत अंतरिक्ष-यान में जिसका नाम 'लीला-विलास' था, महाराजा मुंशी जी और महाकवि दोनों उड़कर आसमान में अदृश्य हो गए और मिनिटों में मास्को पहुंच गए। मास्को के मध्य ठीक लाल मैदान में लीला-विलास-यान ज़मीन पर उतरा, और ढोल-नगाड़े और मंजीरों की मधुर-धुन के साथ मास्को के महाराज ने गले लगाकर मुंशी महाराज का ममतापूर्वक स्वागत किया। महाराज मुंशी जी ने अपने साथ लाई हुई 'भग्न पादुका-पुराण' की मनोहर-मंजूषा दिखलाई और मटीरिया मेडिका-महाकाव्य के प्रणेता से परिचय करवाया। मास्को में महाराज मुंशी को 'मजूर-मंज़िल' नामक महल में ठहराया गया जहां चाय-नाश्ता लेकर, सफेद धोती और सफेद टोपी से सुसज्जित होकर महाराज मुंशी मास्को महाराजा से मिलने गए। माटूंगा मनोहारी, महा-बलेश्वर की महनीयता और मलाबार-हिल की मोहकता की चर्चा करने के पश्चात् असली चर्चा पर उतर आए। लगातार तीन घंटे की बातों के बाद आपने

अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक भग्न-पादुका-पुराण की मंजूषा को खोलकर मास्को के महाराज की जन्म-कुंडली का भविष्य पढ़कर सुनाया। सारा हाल सुनकर मास्को के महाराजा का मन बेहद प्रसन्न हो गया। महाराजा मुंशी ने बतलाया कि उन्हें चीन से जरा भी चिंता करने की जरूरत नहीं है। भग्न-पादुका-पुराण में बतलाए गए प्रयोग के करने से ही वह चौकड़ी भूल जाएगा, और उसके इरादे चौपट हो जाएंगे।

'भग्न-नासिका' वाले देश का पासा पलटने ही वाला है—इस चर्चा को सुनकर मास्को के महाराजा की बांछें खिल गईं। मुंशी महाराजा को उन्होंने अपना बड़े से बड़ा हित-चिंतक माना, और भग्न-पादुका-पुराण में बतलाए हुए प्रयोग के करने की तुरंत मंजूदी दे दी। और कहा कि यह प्रयोग माटूंगा के महाराज की देख-रेख में ही किया जाय। माटूंगा के महाराज मुंशीजी ने भी इसे स्वीकार कर लिया। तदनुसार तुरंत माटूंगा को मैसेज भेजा गया कि विश्व संस्कृत परिषद् से पचास पंडितों को पोथी पत्रा लेकर मास्को रवाना किया जाए। इनके साथ दो खाना बनाने वाले आचार्य हों। हाथ धोने के लिए भारत की मिट्टी साथ में ले आएं। तथा रेशमी वस्त्र, जनेऊ जोटे, पानी के पात्र लाना न भूलें, चूंकि मास्को में चूल्हे नहीं जलते इसलिए भस्मी भी भारत से ही लेते आएं।

दो दिनों बाद मास्को में पंडितों के साथ सभी जरूरी सामान पहुंच गया, और महाराजा मुंशी के नेतृत्व तथा मार्ग-दर्शन में भग्न-पादुका-पुराण प्रदर्शित प्रचंड प्रयोग प्रारंभ हो गया। प्रारंभ में मास्को के महाराज के प्रधान-पुरोहित प्रोफेसर खाटपटकी ने विधिवत् पूजा-पाठ किया। और अपने हाथों महाराजा को रक्त चंदन का तिलक और लाल कनेर का हार पहनाया। महाराज मुंशी ने भी पंडितों के मंत्रोच्चार के साथ महाराज मास्को के मस्तक पर तिलक और अभिषेक किया। सात रोज़ तक लगातार मास्को के मैदान में विशाल मंडप के नीचे 'ऋग्-वेद' का पाठ पंडित लोग करते थे, और पाठ पूर्ण हो जाने पर उसी मंडप में विशाल जन समूह के बीच 'मटीरिया मेडिका' महाकाव्य का मधुर पाठ और प्रवचन भी किया जा रहा था। सारा मास्को काव्य के मनोहर पाठ, और प्रवचन से मुग्ध बन

रहा था। मडप के मध्य मे एक सिहासन रखा था, जिस पर सुसज्जित रूप से काका-कामराज की मास्को यात्रा के समय भेंट की गई मीनाक्षी की भव्य कांस्य प्रतिमा बिठलाई गई थी।

काव्य पाठ से प्रसन्न होकर मास्को के महाराजा ने इच्छा प्रदर्शित की कि इस यात्रा, और प्रयोग की स्मृति स्वरूप मटीरिया मेडिका-महाकाव्य का प्रकाशन मास्को से ही किया जाए। कवि और महाराजा मुंशी ने इस पर परम हर्ष के साथ स्वीकृति प्रदान की। प्रयोग पूरा होने पर उस पवित्र भूमि पर महाराजा मुंशी के अनुरोध पर भवन की भव्य इमारत बनाने के लिए आधार शिला भी रखी गई। मास्को के नागरिकों का आग्रह हुआ कि इस प्रयोग के लिए जो पंडित वर्ग यहां आए हैं वे इसी भवन में रहें, और 'ऋग्-वेद' का पठन-पाठन प्रवचन करते रहें। यह सुन सभी प्रसन्न हो गए। पंडितों ने चाहा कि जब तक भवन बनकर तैयार हो हमें अपने घर की जाने की अनुमति मिल जाए। भवन के कार्यारंभ के समय सभी यहां आ जाएंगे। महाराजा मुंशी सम्मान सहित अपनी यात्रा और प्रयोग पूर्ण कर वापस आ गए।

भग्न पादुका पुराण और मटीरिया मेडिका के प्रकाशन के कार्य को लेकर महाकवि मास्को में ही रुक गए थे। बाद में महाराजा मुंशी जी ने अपने राजधानी माटूंगा के मलावार मार्ग स्थित दरबार में कुछ समय बाद एक रोज बतलाया कि प्रयोग के फलस्वरूप ही चीन के लोगों की, जो किसी समय नाक ऊंची थी, कटकर चपटी हो गई, तथा उसका सपना चकनाचूर हो गया। पता चला कि मास्को में भग्न पादुका पुराण की पचास लाख प्रतियां प्रकाशित की गई थीं तथा मटीरिया मेडिका महाकाव्य भी मास्को के सभी नर-नारियों ने लाखों की तादाद में खरीदा था। भारत में आज यह कहीं उपलब्ध नहीं है। यदि कहीं मिल जाता तो यह हिंदी का महाकाव्य भारतीय-ज्ञानपीठ के सर्वश्रेष्ठ एक लाख के लेबल (नोबल) पुरस्कार का एक मात्र अधिकारी ठहराया जाता।

नवीन देवों का उदय

तथागत-बुद्ध के पहले इस देश में देवी-देवताओं, पंडे-पुरोहितों का प्रभाव पर्याप्त हो गया था। समाज उनकी पकड़ से परेशान हो गया था। इस परेशानी से छुटकारा दिलाने के लिए बुद्ध का अवतार हुआ, और एक लंबे समय तक जनता ने भगवान् से राहत पा ली। पर ईश्वर को अपने आसन से उतार देने वाले महात्मा बुद्ध को ही उनके अनुयायियों ने ईश्वर की खाली गद्दी पर आसीन करवा दिया, और उनकी पूजा-पत्री होने लग गई।

गुलाम भारत में गुलामी की विवशता से लोगों ने फिर भगवान का पल्ला पकड़ा और पूजा-पत्री में पड़ गए। किंतु जब भारत सदियों के बाद स्वतंत्र हुआ तो उसने पहला काम यही किया कि वह धर्मनिरपेक्ष है। फलतः लोगों ने अपने राज्य की स्वतंत्रता को सभी अर्थों में लेकर सभी बंधनों से छुटकारा पाकर धर्म को धता बतलाया। हर तरह से स्वतंत्र बनना शुरू कर दिया, पर पूजा के आदी आदमी को किसी की पूजा जरूरी थी। आरंभ में उसने पुरानी मूर्तियों की जगह गांधी की मूर्ति लगाकर कुछ दिनों पूजा। पर यह प्रवाह धर्म-निरपेक्षता की पुकार के समक्ष अधिक समय तक टिक न सका। नई पीढ़ी ने उनके मुकाबले में सिनेमा के जीवित नट-नटियों को सम्मान देना शुरू किया। गांधी-जवाहर के दर्शनार्थियों की भीड़, नट-नटनियों की झांकी लेने को मचलने लगी, मंदिर की दालानें सूनी हो गई और नटनटी के नाम-चित्र, घर-घर में नारी-नारी के दिमागों में घर करने लगे। नई पीढ़ी के ये मसीहा पुरानी पीढ़ी के अवतारों को चैलेंज देने लगे हैं, अब पुनः नए देवों, अवतारों की जरूरत महसूस होने लगी है।

समय-समय पर जिस प्रकार नेता बदलते जा रहे हैं, हमारे देवता भी बदलें तो कोई आश्चर्य का कारण नहीं होना चाहिए, यह समय ही दल-बदल का है, अच्छे-अच्छों की आस्थाएं डिग गईं, बदल गई, और बदलती जा रही हैं। फिर यदि देवों की अदला-बदली न हो तो कैसे चल सकता है? आज का समय जिस तेजी से पलटता जा रहा है? हमारी आस्था, और आराध्य भी पलटना जरूरी हो गया है। वेदों के समय के इंद्र-वरुण आदि देव भी पुराणों के युग में पहुंचकर राम-कृष्ण, शकर, देवी बन गए थे। यह दल-बदल, या देव (नेता) बदलने की बात ही तो है।

आज वैसे ही पुराने देवों का अवमूल्यन हो गया है, और स्वतंत्र-भारत में नये कीर्तिमानों की तरह नये देवों की भी प्रतिष्ठा जरूरी हो गई है।

धरनेश्वर महादेव

अब समाज में 'धरना' नीति का महत्त्व हो गया है, इसलिए धरनेश्वर महादेव की स्थापना होनी चाहिए और धरना देने वाले लोगों को चाहिए कि वे अपने धरने देने के पहले इस देवता की पूजा करें, और प्रोसेशन के साथ उस जगह ले जावें जहां धरना देना हो। उन्हीं के भजन-कीर्तन के भजन-कीर्तन के साथ धरना देने लगें।

दल-बदल-राम

यह प्रतिमा उन परिवारों में स्थापित की जाए जो कांग्रेस से कम्युनिस्ट हो या हों, या समाजवादी से स्वतंत्रवादी हो गए हों, अथवा क्रांतिकारी से शोषित बन गए हों।

महाबंध

इसी तरह 'बंध' के कार्यक्रम को जिन लोगों ने अपना बना लिया हो वे 'महाबंध' महाराज की नियमित पूजा-अर्चा करने लगें।

घेरावेश्वर

घेराव एक सफल किंतु तात्कालिक-सफलता देने वाला मार्ग है। इस मार्ग के अनुयायियों को घेरावेश्वर की पूजा करनी चाहिए।

हड़तालिका देवी

इन देवों के बीच एक भगवती की भी बहुत जरूरत है इसलिए हम भगवती 'हड़तालिका' देवी की पूजा करें तो सफलता संदेह रहित मिलती है। परंतु देवी की आराधना का मार्ग सदैव बड़ा कठिन माना गया है। तदनुसार हड़तालिका-देवी की आराधना में भी आंसू गैस की धूप देनी पड़ती है, लाठी का प्रसाद पाना पड़ता है। और सफलता के प्रसंग पर कभी-कभी 'गोली' की गड़गड़ाहट एवं दिव्य-ज्योति भी प्रकट हो जाती है। तब जाकर यह हड़तालिका देवी प्रसन्न होती है।

इन पूजाओं में भी त्याग-तपस्या और साधना करनी पड़ती है। बिना हठयोग के यह साधना सफल नहीं होती। इन देवों की पूजा विधि भी है। तांत्रिक प्रयोग भी है। अनशन का कवच भी इस प्रसंग में एक तांत्रिक प्रयोग के रूप में, काम में लाया जाता है।

सत्य और तथ्य यह है कि इस पलटे हुए प्रसंग में नवीन देवी-देवियों की पूजा-आराधना विशेष रूप से फलदायी बन जाती है।

लघु उद्योग में कुर्सी का महत्त्व

वैसे भारत अपनी औद्योगिक क्रांति से गुज़र रहा है, सरकारी सहायता, अपनी सहायता और विदेशी सहायता से निरंतर विविध उद्योगों का आरंभ हो रहा है, आयातों और निर्यातों में होड़ लगी हुई है। खाद से लेकर इस्पात तक और फीते से लेकर जूते तक के उद्योग अमल में आ गए है। प्राइवेट-सेक्टरों से पब्लिक सेक्टरों में खर्चा पैदा हो गया है। परंतु दोनों में कौन कैसे पनप रहे हैं, उस बात की सही जानकारी के लिए अभी किसी सरकार या साहूकार ने कोई 'कमीशन' नहीं बिठलाया है। क्योंकि अभी उनके 'कमीशन' के प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद चल रहे हैं। विद्रोही नागाओं की तरह निरंतर चर्चाएं होते हुए भी किसी समझौते की संभावना सामने नजर नहीं आ रही है।

बड़े उद्योगों में बड़ी-बड़ी गड़बड़ी चल रही हैं। जिन सरकारी उद्योगों में सफलता की बातें बतलाई जाती हैं, वहां सरकारी आदमी ही साक्षी देता है और साहूकार उनकी असफलता और घपलों की घोषणा करता है। इसके विपरीत सरकारी-सूत्र बतलाते हैं कि—साहूकारी-उद्योगों में अनाप-शनाप संपत्ति मिलती जा रही है। ऐसी हालत में उन लघु-उद्योगों को कौन कहे, जो अपने आप में 'लघु' ही हों। गृह-उद्योग, ग्रामोद्योग का हाल ही न पूछिए! उनका बाहर और बाहरी लोगों से क्या संबंध होगा। वे अपने घर के लिए ही तो उद्योग करते हैं। उनमें बाहरी हस्तक्षेप का सवाल ही नहीं उठता। उनमें यदि कोई गड़बड़ उठती हो तो वह महज 'गृह-कलह' तक ही परिचित (परमिट नहीं) रहती है।

तथापि अभी अनेक उद्योग घरेलू या लघु की सीमा में आने लायक रह गए हैं, जिनकी तरफ बहुत कम किसी का ध्यान गया है, गृह-उद्योग में प्रवीण जापान में भी उनकी जरूरत पर कोई ध्यान देने की आवश्यकता नहीं हुई है। हमारे देश में भी इस समय तक सिर्फ इस उद्योग के लिए राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, बिहार और बंगाल में ही सुविधा दिखाई देने लगी है।

यह उद्योग है—'कुर्सी-कला'। ऊपर दिए हुए प्रदेशों में इस उद्योग के विकाल की पर्याप्त सुविधा सामने दिखाई देने लगी है। यदि सरकारी सेक्टर में संभव न हो तो, साहूकारी-सेक्टर में अधिक सुविधा से यह कुर्सी-कला लाभप्रद सिद्ध हो सकती है।

हां, इसमें यदि कोई कठिनाई आती थोड़ी दिखाई देती है तो वह इस उद्योग में प्रयोग होने वाले कच्चे माल की है। क्योंकि बीस वर्ष से प्रति वर्ष वन-महोत्सव का पूरे उत्साह से आयोजन होते हुए, और लाखों पेड़-पौधों के जमीन में जमाते हुए भी जलाऊ लकड़ी की तंगी बनी ही रहती है, और लकड़ी के भाव आसमान को छूते चले जा रहे हैं। जनता परेशानी में पिस रही है। बेचारी लकड़ी भी आखिर क्या करे? जमाना पलटता जा रहा है और बड़े वेग से जनता बढ़ती चली जा रही है। आखिर लकड़ी की प्रजनन-शक्ति इतनी वेग से कहां बढ़ पा रही है कि वह बढ़ती हुई जन-सख्या के लिए 'आत्म-दहन' का साधन प्रस्तुत कर सके? वस्तुतः अन्न के लिए ही नहीं, जलाऊ लकड़ी के कारण भी देश में संतति-निरोध की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अस्तु, मूल समस्या यह है कि वन महोत्सव के होते हुए भी बढ़ी हुई बकरियां उन पौधों को प्रेम से पेट में उतारती चली जाती हैं, और वन रूखे जंगल होते जा रहे हैं। ऐसी हालत मे 'कुर्सी-कला' के लिए उपयोगी कच्चा-माल कैसे प्राप्त किया जाए? लघु-उद्योग के कार्यकर्ता भी इस विचार में विशेषज्ञों से बराबर परामर्श कर रहे हैं कि इसकी पूर्ति के लिए क्या पहल की जाए? और किसी देश से यह कच्चा माल उधारी के समझौते से आयात किया जाए? और विदेशी-मुद्रा के लिए क्या उपाय किया जाए। एक विशेषज्ञ ने, सुना है,

चलते हुए यह राय दी है कि बढ़ती हुई जनसंख्या में से कुछ लोगों को सस्ते दर पर यदि किसी देश में निर्यात कर दिया जाए तो शायद यह गंभीर समस्या सरल बन जाए, किंतु यह समस्या उतनी सीधी नहीं लगती। इसके लिए संधान लगाने के लिए कुछ लघु-उद्योग वालों को विभिन्न देशों में पता लगाने भिजवाना आवश्यक होगा, इसके पश्चात् यह विचार संभव होगा कि यह निर्यात-परमिट किस-किस को किस कंडीशन पर दिया सकेगा। परंतु कुर्सी कला के लिए अब कच्चे माल का प्रश्न अधिक समय उपेक्षित नहीं किया जा सकेगा। विभिन्न-स्थानों पर पिछली विधान सभाओं में महज़ कुर्सी फेंकी भर जाती थी, कुर्सी चल जाती थी, नगर निगमों मे कुर्सी-मार हो जाती थी, सो उसमें सुधार की सुविधा रहती थी। परिवर्तन का प्रसंग आ सकता था, किंतु जब से यह कांग्रेसी-शासन जगह-जगह बिखरने-टूटने-गिरने लगे, तब से कुर्सी टूटने-गिरने का क्रम बढ़ गया है। और अब कुर्सी की मांगें बढ़ने लगी हैं, उसकी संख्या बढ़ने लगी है। विकास और विस्तार के इस प्रगतिशील वातावरण में यह आवश्यक हो गया है। आदमी या अधिकारी मंत्री बढ़ते जा रहे हैं। कुर्सी की कमी महसूस होने लगी है। खासकर तीन प्रदेशों ने तो कुर्सी की एक कठिन-समस्या ही समाज और शासन के समक्ष प्रस्तुत कर दी है। उनमें हरियाणा अग्रणी (राष्ट्र-कलश के पुरस्कार के योग्य) है। फिर मध्य प्रदेश, और राजस्थान बिहार बंगाल का नंबर आता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि जब वेग के साथ हर देश-प्रदेश में जन-संख्या में वृद्धि हो रही है तो शासन उससे कैसे वंचित रह सकेगा? मंत्रियों की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। परंतु जिस अनुपात से जन वृद्धि हो रही है, मिनिस्टरों की संख्या बढ़ रही है, उस अनुपात से वृक्ष-वृद्धि नहीं हो रही है, लकड़ी की कमी पड़ रही है। वह जलती जा रही है, 'कला' के क्षेत्र में उतनी नहीं पहुंच पाती जितनी कुर्सी के लिए ज़रूरी होती है, इसलिए यह कठिनाई आकर उपस्थित हो गई है। राजस्थान रेतीला प्रदेश है, वहां वैसे ही पेड़, और उसकी लकड़ी की कमी है, मध्य प्रदेश हरियाला, प्रदेश है, परंतु लकडी की अधिक उपज महाकौशल में होती है। फर्नीचर के लिए यही उपयोगी

होती है, लेकिन दुर्भाग्य से वहां राजनीतिक उलझनें बढ़ी हुई हैं। 'गुलाबी चने' की तरह लकड़ी भी निरंतर निर्यात के पथ पर पहुंच गई है। और मिश्रा जी के प्रभाव-क्षेत्र में रहने के कारण वह संविद-सरकार के लिए सुलभ नहीं रह गई है। शुक्ला-मिश्रा के अंतर्द्वंद्व के जंगल में जल रही है, बंगाल में साम्यवादियों के आतंक के कारण यह लकड़ी 'टूट-फूट' के सुधार में ही समाप्त होती जा रही है, कला के केंद्रों में पहुंच नहीं पाती। और बिहार में—यह पहले सूखे का शिकार हो गई और बाद में महामाया की बाढ़ में बहती चली गई है। ऐसी हालत में सिवा इसके चारा नहीं है कि उसे विदेशों से आयात किया जाए। जब तक यह संभव नहीं होता कुर्सी कला जैसे गृह या लघु-उद्योग का विकास-विस्तार संभव नहीं है, तब तक प्रदेशों में होने वाले मंत्रिमंडलों के लिए जरूरी इस कुर्सी उद्योग का भविष्य अंधेरे में भटकता रहेगा। केंद्रीय उद्योग विभाग का ध्यान हम इस कुर्सी-उद्योग की ओर साग्रह आकर्षित करना चाहते हैं।

डॉक्टरेट की डकार

श्रीमान् महानुभाव

उपकुलपति महोदय,

भूचाल विश्वविद्यालय

भूचाल (म.प्र.)

श्रीमान्,

मैं कॉलेज का उपाधिकारी हूं, और डॉक्टरेट के लिए प्रबंध लिखना चाहता हूं। मेरा विषय है 'रासभराज (भाषा में--गधा) का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अध्ययन'।

यह विषय सर्वथा मौलिक महत्त्व का है, और किसी भी देश के किसी विश्वविद्यालय ने--(जो प्रगतिशील कहलाते हैं) जहां तक मेरी जानकारी है कहीं से इस नवीन महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई थीसिस नहीं लिखा गया है। मेरा इस विषय पर वर्षों से गंभीर अध्ययन, मनन व चिंतन है। मैंने देश-विदेश के मनीषियों से समय-समय पर विचार विनियम भी किया है। इस विषय में प्राप्त-अप्राप्त सभी ग्रंथों, संदर्भों का भी अनुशीलन किया है। मैं यह कहने में संकोच अवश्य अनुभव करता हूं कि (विवश साहस करके कहना ही पड़ेगा कि) मैं इस विषय में एक मात्र विशेषज्ञ हूं। मैंने कई शोध-पत्र भी पत्रों में प्रकाशित करवाए हैं, आदेश होने पर मैं प्रस्तुत कर सकूंगा। आज से दस वर्ष पूर्व मेरे इस ज्ञान-अन्वेषण के विषय में मित्रों ने पत्रों में लेख भी लिखे हैं। वे भी आप देख सकते हैं। मैं इस पत्र के साथ अपने विषय की रूपरेखा (सिनाप्सिस) प्रस्तुत कर रहा हूं। इसे

देखकर ही मेरे विषय-विस्तार और गहराई का आप अनायास अनुमान कर सकेंगे और मुझे विश्वास है कि आप अपने विश्वविद्यालय में इसे स्वीकार कर मुझे अवसर देंगे कि मैं आपके विद्यापीठ से डॉक्टरेट प्राप्त कर सकूं। आशा है आप स्वीकार करेंगे। यद्यपि आजकल हर विश्वविद्यालयों में बिना मिडिल भी पास लोगों को 'आनरिस काजा' के रूप में 'डॉक्टरेट आफर कर दी जाती है, जबकि मैं स्नातक उपाधि प्राप्त व्यक्ति हूं, मुझे स्वीकृत देने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मेरे सामने एक और समस्या और भी गंभीर रही है, (और मुझे आंशका है कि आपके सामने भी यही सम्स्या प्रस्तुत हो) कि इस विषय में मुझे निर्देश किसका प्राप्त हो? मैंने अरब राष्ट्र के नेता (जहां इस प्राणी का अत्यधिक महत्त्व सदियों से चला आ रहा है) से भी परामर्श किया है। तिब्बत के प्रमुख लामाओं से भी संपर्क किया है, परंतु आपके विश्वविद्यालय की 'रिसर्च-गाइड-सूची' में उनका (देश के बाहरी व्यक्ति होने के कारण) नाम नहीं होगा। अतः इस विषय के विशेषज्ञ की खोज कर मेरा 'गाइड' नियुक्त करने का कष्ट उठाना पड़ेगा। चाहें तो एक विशेषज्ञ समिति, या एकेडेमिक कौंसिल का परामर्श लेकर राय देवें, और आप मुझ पर ही यकीन करें तो विशेष रूप से मेरा वर्षों का अध्ययन होने के कारण मैं ही अपना 'गाइड' भी बना सकता हूं। बशर्ते आप और आपके सिडिंकेट को कोई आपत्ति नहीं हो।(होना तो नहीं चाहिए) अन्यथा मैं ऐसे किसी भी प्राध्यापक का निर्देशन स्वीकार कर लूंगा जिसे आप मेरे विषय के अनुरूप अनुभव करते हों, मुझे आपत्ति नहीं होगी। आप जानते ही हैं कि आज तो हर युनिवर्सिटी में ऐसा ही चल रहा है कि जिस विषय का एक शब्द भी जो न जानता हो वह 'गाइड' का काम करता ही है। दस-बीस शोध-छात्रों का जब एक व्यक्ति गाइड होता है तो वह उनके सभी विषयों से क्या मतलब रखता होगा? और प्रायः ऐसे ही परीक्षक भी बनाए जाते हैं जो उस विषय की ए.बी.सी. नहीं जानते हैं, तो ऐसे किसी भी व्यक्ति को आप नियुक्त कर दें, मुझे आपत्ति नहीं होगी। मेरा अपना काम तो हो जाएगा, गाइड का नाम (नाहक) हो

जाएगा। यह आपकी सुविधा के लिए लिख रहा हूं, वैसे मेरा उचित 'गाइड' तो शायद कोई कुम्हार भी बन सकता है। वह मेरे विषय में किसी प्रोफेसर से ज्यादा ही जानता होगा पर चूंकि वह आपके विश्वविद्यालय के सदस्यों को—संभवतः आपको भी स्वीकार्य नहीं होगा। जो भी हो, मेरा सिनाप्सिस आप स्वीकार कर अपनी संस्था से डॉक्टरेट करने की अनुमति देवें। मेरा निबंध सभी विश्व-विद्यालयों में अपूर्व, महत्त्वपूर्ण एवं सर्वथा मौलिक ही सिद्ध होगा। आपकी संस्था को गौरवान्वित करने में समर्थ होगा।

धन्यवाद।

प्रार्थी
(डी.पी. शर्मा)
बी.ए.

सिनाप्सिस (रूपरेखा)

गधे का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अध्ययन (समाजवादी दृष्टिकोण से)

गधे का उद्भव, विकास और व्यक्तित्व।

प्राणिशास्त्रीय अध्ययन (एक सामाजिक प्राणी के रूप में)

इतिहास की परंपरा।

समाज में गधे की उपयोगिता, सामाजिकता, कर्म-निष्ठा, निस्पृह भावना एवं 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का उदाहरण।

वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक परंपरा, प्राक् इतिहास—मध्य युग से वर्तमान काल तक—ईसा से मूसा तक महत्त्व।

येरुसलम, इजिप्ट-अरब, तिब्बत, मरु प्रदेश, आदि में कार्य क्षेत्र।

देवों के वाहनों के रूप में स्थान।

मुद्राओं पर महत्त्व, खरौष्ट्री लिपि से संबंध, गंधर्व-सेन, गर्दभिल्लवंश से संबंध।

संगीत परंपरा में पंचम स्वर का उद्भव।

'ग' से 'गदहा' का आरंभ।

ग्राम-नगर-जनजीवन, निर्माण कार्य में आदर्श स्थान।

प्रजापति एवं रजक के जीवन निर्माण में प्रमुख योग।

समाज-सेवी—निष्काम कर्म में प्रतिष्ठित स्थान।

राजनीतिक आंदोलनों में देश सेवा में योगदान, नेता के निकट सहयोगी, और नेता निर्माण में बुनियादी कार्य।

वाइसराय, प्राइमिनिस्टर आदि के पद प्राप्त करके निर्लिप्त, स्वार्थ-रहित समान स्थिति के निर्वाह में प्रमुख। एशिया के प्राणियों में विशिष्ट स्थान।

प्राणियों में मानव का इसी का नाम उपाधि से अलंकृत होने का गौरव प्राप्त।

कुछ विशिष्ट स्थानों के महत्त्व का कारण जहां उद्भव विकास मे महत्त्व प्राप्त हुआ है, कारणों और भौगोलिक स्थिति का अध्ययन।

साहित्य में गधे का स्थान, उस पर निर्मित साहित्य की प्रेरणा का आलोचनात्मक इतिहास—

कथा साहित्य में

पुराण साहित्य में

धर्म साहित्य में

व्यंग्य साहित्य में

कविता आदि में स्थान, शृंगार और अश्लील में वर्णन।

गधे की गुंती-गोन-(गाउन) की विकास परंपरा, भाषा शास्त्रीय अध्ययन, विदेशी भाषा में, प्रदेश, शिक्षा-क्षेत्र में महत्त्व।

गधे के स्वर का ध्वनि शास्त्रीय अध्ययन ।

सेवा-भावी प्रवृत्ति, निरीहता, तथा उत्थान की दिशा में कर्त्तव्य एवं उपेक्षा पर प्रकाश।

गधे की अनुशासन-भावना, स्थितप्रज्ञता, निष्ठा, कर्त्तव्य-शीलता।

आत्मविस्मृत भावना पर विचार।

गधे की गरिमा एवं उक्त प्राणियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन।

गधे के विभिन्न नामों की परंपरा तथा इतिहास, विदेशों में अस्तित्व, स्थानांतर आदान-प्रदान का वृत्त।

इजिप्ट, तिब्बत आदि की संस्कृत में प्रभाव, योग, महात्मा ईसा, मुहम्मद, शीतलादेवी के साथ संबंधों पर प्रकाश, शिल्प में 'गधाजाल' आदि की परंपरा।

मालव प्रदेश में—खरगोन, नरसिंहगढ़, राजस्थान, झालावाड़, मरुक्षेत्र में महत्त्व।

विभिन्न प्राणियों से साम्य, वैषम्य, रहन-सहन, आहार-बिहार पर गंभीर अध्ययन।

गधे के सिर के सींग के संबंध में वैज्ञानिक विचार।

'एक गधे की आत्मकथा' के लेखक कृष्णचंदर के मंतव्य तथा देश-विदेश के मनीषियों के इसी प्राणी के संबंध में मंतव्य।

वसंतकाल में इस प्राणी की उपादेयता, लोकप्रियता पर विचार।

समाजवादी समाज रचना के संदर्भ में इस प्राणी का आदर्श और महत्त्व।

गधे का मानव से ममत्व, अहिंसक भावना, साम्यवाद, वर्णभेद, वर्गभेद, धर्म के प्रति निरपेक्षवृत्ति, रूपरंग, कुलशील सेवा आदि के कारण। समत्व-योग-साधाना में स्थान।

पंचशील का प्रामाणिक आराधक तथा 'सहना ववतु, सह नौ भुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै' का उपासक होने के कारण राष्ट्र के लिए अनुकरणीय राष्ट्रीय प्राणी होने का प्रमाण।

आनुवंशिकता का महत्त्व तथा मानव के द्वारा गधे के साथ खच्चर का विषय-सहअस्तित्व बना देने पर भी यह अप्रभावित असंपृक्त।

यहां अत्यंत संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत है। विषय के स्वीकृत हो जाने पर विचार प्रस्तुत किया जाएगा।

पा. रा. तारे
एम. ए. एल. एल. बी.
रिटायर्ड सिविल जज

160 महाकाल मार्ग
उज्जैन

तारीख 22-3-70

श्रीमान् मान्य उपकुलपति महोदय,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन

श्री डी.पी. शर्मा जी ने अपने शोध-प्रबंध के लिए जो विषय चुना है वह वहुत महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक भी है। मेरी नम्र सम्मति में जो सिनाप्सिस शर्माजी आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं वही इतने महत्त्व का है कि विश्व-विद्यालय का डॉक्टरेट केवल इसी आधार पर दिया जा सकता। आप और विश्वविद्यालय की एकेडेमिक कौंसिल इस पर गंभीरता से विचार करेंगे। मैं इस सिनाप्सिस से बहुत प्रभावित हूं।

सधन्यवाद।

आपका
(पा. रा. तारे)

परिशिष्ट-1

व्यासजी :
अनेक मुखड़े, सभी उज्ज्वल

उज्जयिनी का प्रांगण आधुनिक युग में जिन विशिष्ट व्यक्तियों के कारण सुरभित रहा है, उनमें स्वर्गीय पं. सूर्यनारायण व्यास का नाम अग्रगण्य है। किसी नगर में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जो उनकी तरह राजा से रंक तक तथा कुलपति से अनपढ़ किसान तक सबका परिचित और प्रिय हो।

पंडितजी का घर एक अतिथि-गृह था, जहां परतंत्रता के दिनों में भी क्रांतिकारियों को आश्वस्त आवास मिलता, विद्वज्जनों को आत्मीय सहवास मिलता, दुखी-संतप्त जनों को सांत्वना मिलती और अनपढ़ कृषक एवं श्रमिक को प्रगति का मार्गदर्शन होता; संशोधकों को सामग्री मिलती, भाषाविदों को ठेठ मालवी का आस्वाद मिलता, पुराविदों को अभिलेख एवं पुरावशेष मिलते, ज्योतिषियों को वराहमिहिर का आधुनिक अवतार मिलता और शिक्षा-विदों को शिक्षा-योजनाओं का प्रात्यक्षिक मिलता; कलाकारों को प्रेरणा मिलती, साहित्यिकों को सजीव चेतना मिलती; समाज-सेवियों को गतिशील विचार मिलते, राजनीतिज्ञों को प्रखर स्वातंत्र्य और क्रांति की चेतना मिलती।

इस अनोखे व्यक्तित्व ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से उज्जयिनी में एक 'व्यास-युग' निर्मित किया और भारती-भवन के छज्जे पर बैठकर उज्जयिनी की समृद्धि में वह योगदान दिया, जो भुलाया नहीं जा सकता। उज्जयिनी के गौरव विक्रम विश्वविद्यालय, अखिल भारतीय कालिदास

परिषद्, विक्रम कीर्ति-मंदिर, सिंधिया प्राच्य शोध-प्रतिष्ठान, कालिदास महोत्सव आदि के मूल प्रेरणा-स्रोत पंडितजी थे।

सूर्यनारायण थे नारायण के पुत्र, और नारायण की प्रतिष्ठा को सूर्य के समान प्रकाशमान करके अपनी व्यास-कुलोत्पन्नता को सार्थक कर दिया था उन्होंने। उनकी मान्यता थी कि कृष्ण के गुरु सांदीपनि ऋषि की कुल-परंपरा से उनका सीधा संबंध था। इतिहास इसे भले ही प्रमाणित न करे, किंतु उज्जयिनी में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए जो अथक परिश्रम उन्होंने किया और उसकी सार्थकता का जो स्वरूप आज दिखाई देता है, वह निश्चय ही सांदीपनि से उनकी निकटता का द्योतक है। उनके पिता श्री नारायण व्यास स्वयं संस्कृत के उद्भट पंडित थे और उनका संबंध पाश्चात्य संस्कृत-पंडित हुल्ट्ज, बूलहर एवं ल्युअर्ड से था। ज्योतिषशास्त्र के वे असामान्य अधिकारी थे और उनकी यह विद्या श्री सूर्यनारायणजी ने प्राप्त की थी।

पं. सूर्यनारायणजी अपने ज्योतिष के कारण जगत्मान्य थे और अपने इतिहास-ज्ञान, साहित्यिकता एवं देशप्रेम के कारण विद्वज्जगत् में भी सम्मान्य थे। उज्जयिनी, अवंतिका, मालव उनका अपना आत्मीय विषय था। मालवी भाषा के उन्नायक व्यासजी बोल-चाल में उसका प्रयोग करते; किंतु संस्कृत, मराठी, हिंदी, बंगला आदि भाषाओं पर भी उनका प्रभुत्व था।

2 मार्च 1902 (फाल्गुन कृष्णा 8, संवत् 1959) को उनका जन्म हुआ। उनका शैशव पंचमुखी हनुमान के देवालय में, महाबलेश्वर के सान्निध्य में, रुद्रसागर की उत्ताल तरंगों की ध्वनि में, मां भगवती हरसिद्धि के देवालय की सांध्य छायाओं में एवं स्वनामधन्य महादजी सिंधिया के प्रासाद-तले बीता। ऋषि तुल्य पिता के आश्रम में संस्कृत एवं ज्योतिष का प्रारंभिक शिक्षण पूर्ण करके उन्होंने वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय में आगे का शिक्षण पूर्ण किया।

इन्हीं दिनों देश में चल रहे स्वातंत्र्य-आंदोलन में आप्लावित हो उन्होंने क्रांतिकारियों के आश्रयदाता के रूप में अपने घर को 'जनधर्मशाला' बनाया।

वीर सावरकर, रासबिहारी बोस, शचींद्रनाथ सान्याल आदि के कार्यों से उनमें क्रांति के जिस स्फुलिंग का जागरण हुआ, उसे उन्होंने पल्लवित किया 'आनंदमठ', 'अंदमान की गूंज' आदि काव्यों से। सावरकर-साहित्य से उन्हें जो प्रेरणा मिली, उसका प्रचार भी उन्होंने स्वयं उन पुस्तकों का वितरण करके किया। काकोरी-कांड के वीरों की सहायता हेतु उन्होंने घर-घर जाकर अर्थ एकत्र किया।

उनके इस क्रांति-प्रेम ने अनेक क्रांतिकारियों को उनकी ओर विश्वासपूर्वक आकृष्ट किया। स्वयं 'भैया' चंद्रशेखर आजाद प्रच्छन्न वेश में आकर उनसे मिलते। भगतसिंह उन दिनों जेल में थे ओर उन्होंने आयरिश क्रांतिकारी डानब्रीन की जीवनी लिखी थी। विश्वंभरजी के पकड़े जाने पर मि. छगनलाल ने लाहौर-जेल से उस जीवनी की पांडुलिपि प्राप्त की। उसे छपवाने की समस्या थी। एक सेठ ने 30 रुपये की सहायता दी। पंडितजी ने वह राशि अजमेर में बाबा नरसिंहदासजी के पास भेज दी और वह पुस्तक छपकर आ गई। फिर से उसके गुप्त वितरण में संलग्न हो गए।

पंडितजी का क्रांतिकारी पक्ष जितना विविध था, साहित्य-पक्ष उससे बढ़ चढ़कर ही था। प्रसिद्ध संशोधक श्री विष्णु करंदीकर उन्हें 'जीवित विश्वकोश' कहा करते थे।

प्रागैतिहासिक अवशेषों (मालव प्रदेश में प्रागैतिहासिक अवशेषों की खोज') से ऐतिहासिक काल ('इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उज्जयिनी दर्शन') तक उनके विषयों की व्याप्ति थी। कृत-मालव-विक्रम संवत् के संबंध में उन्होंने व्यापक गवेषणा की थी। 'विक्रमादित्यः अस्तित्व-विषयक भ्रांतियां और निराकरण' पर उन्होंने अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया। सातवाहन, पांड्य, शुंग, गुप्त वंशों के इतिहास पर मूलभूत प्रामाणिक लेखन करके नई दिशाएं दीं। अवंती-मालव तो उनका अत्यंत प्रिय विषय था ही; इस प्रदेश की अवंति-प्राकृत, मालव भाषा की विवेचना पर उन्होंने मौलिक संशोधन किया। विदेशों से संबंधित ऐतिहासिक अभ्यास करके उन्होंने लंका, जावा, भाया और सुमेरीय इतिहास पर नया प्रकाश डाला।

ज्योतिष उनका परंपरागत व्यवसाय था। अपने पिता से शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करके उसमें और अधिक योगदान दिया। अचूक भविष्यवाणियों के लिए वे विख्यात थे। उनकी इन भविष्यवाणियों की ख्याति यूरोप तक पहुंच चुकी थी। इसी कारण जब 1937 में वे इंग्लैंड पहुंचे, तो ड्यूक आफ़ एडिनबरा ने उनका अपने महल में स्वागत किया था। जर्मनी-प्रवास में वे हिटलर से भी मिले थे।

पंडितजी ने 1920 में 18 वर्ष की वय में लिखना प्रारंभ किया था। अभी दो वर्ष पूर्व असह्य बीमारी के कारण ही लेखन विश्राम लिया। मस्तिष्क में आघात के कारण उनकी स्मृति कुछ समय के लिए लुप्त हो गई थी, जो उनके प्रबल आत्म-विश्वास के कारण ही वह वापस गई। इसके बाद बहुत दिन तक लिखना न हो सका और उन्हें इसका दुःख भी था। पर अथक परिश्रम से उन्होंने वह शक्ति पुनः प्राप्त कर ली थी और स्वर्गवास (22 जून 1976) के पूर्व उन्होंने लिखना पुनः प्रारंभ कर दिया था।

सन् 1942 में उन्होंने 'विक्रम' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया और 1955 तक उसे चलाया। इस अरसे में उन्होंने उसमें 1,536 पृष्ठों की संपादकीय सामग्री लिखी।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे पंडितजी। गंभीर चिंतनपूर्ण लेख भी लिखते थे और हास्य-लेखों का भी सृजन करते थे। उज्जयिनी, कालिदास और विक्रम पर गंभीर शोध करने वाली संस्था 'कालिदास परिषद्' के वे जन्मदाता थे, तो उज्जयिनी के 'टेपा सम्मेलन' के भी उन्नायक थे। उनका 'श्वान-प्रबंध' और 'एक और डॉक्टरेट' (रासभराज गर्दभ पर) हिंदी व्यंग्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। डॉक्टरेट की 'सिनाप्सिस' में उस प्रबंध का नामकरण था—गधे का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अध्ययन (समाजवादी दृष्टिकोण से)'।

काव्यानंद उनका स्थायी भाव था। कवि-सम्मेलनों, कवि-गोष्ठियों और काव्य-पाठों को उन्होंने उज्जयिनी की सांस्कृतिक गतिविधियों में श्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित कराया। केवल रसानंद की प्राप्ति के लिए वे काव्य-रचना भी करते थे।

उनके कवि-हृदय का सौरभ हिमाच्छादित देवतात्मा हिमालय की गोद में उन्मुक्त हो इस तरह फैल पड़ा :

'रम्य सुमन सज्जित वन-उपवन
हिमस्नात वे प्रात।'

उनकी काव्य-प्रतिभा के कलकल-रव युक्त प्रवाह को प्रवहमान कर गया :

वह निकुंज सुर-सरिता डल-सी
गुरुतर गिरिवर-माला,
मनोमोहिनी, हिमकिरीटिनी
प्रकृति की मधुशाला।
रंग-बिरंगी, सुरभित-सज्जित
कुसुम-क्यारियां प्यारी,
विविध-लता लावण्यमयी
तरुवर से लिपटी न्यारी।
जलमय जीवन की सुंदरता
सुषमामयी अनन्य,
प्रतिबिंबित, जगमग आलोकित
प्रेक्षणीय बस धन्य।।

स्निग्ध भावों के सर्जक व्यासजी हिमालय पर चीनी आक्रमण होते ही सिंहनाद करने में न चूके : **'धवल-धौत हिमतुंग शृंग का बना रक्तमय भाल।'** और महाकाल के इस अनन्य भक्त ने आवाहन किया :

शिव शंकर कर लो त्रिशूल
अब तांडव नृत्य दिखाओ
सावधान, सिद्धांतहीन,
विश्वासहीन ओ चीन।
शुद्ध-बुद्ध के अनुयायी तुम
करते कुटिल मलीन।।

निकट नाश को किया निमंत्रित
हिम को आज तपाया।
राष्ट्र सिंह को भरी नींद से
छेड़ा और जगाया।
हिमगिरि की चोटी पर चढ़कर
आज हमें ललकारा।।
भारत के सिंहो जागो! यह
है हिम शैल हमारा।।

भारत की अस्मिता को जगाना ही उनका जीवन-व्रत था। परंतु एक बार भावुक मनःस्थिति में जीवन के एकाकीपन की यह अनुभूति हमें सुनाई थी :

नाविक, मेरे हृदय-सिंधु में
उमड़ रही हैं लहरें।
तू ले जाना कूल निकट है,
मैं जाता हूं गहरे।।
पथ में अगणित भंवर पड़े हैं,
आंधी है तूफान।
और निराशा की जननी है
काली, कहना मान।
बहने दे जीवन नौका को
अब मत लगा सहारा
इस जगती में एकाकी है
जीवन सखे हमारा।

जीवन की आंधी का एहसास उन्हें हमेशा ही होता था; परंतु आत्मसम्मान की उनकी चिंतना ने उसे हमेशा अंतर में ही बंद रखा। सहायता देने के इच्छुक आए, पर मान के धनी ने अपना हाथ कभी भी न बढ़ाया। हाथ बढ़ा अवश्य—अभय-मुद्रा में, दान-मुद्रा में; भिक्षाटन-मुद्रा में नहीं।

पत्रकारिता में अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य के वे कट्टर समर्थक थे और जब उन्होंने 'विक्रम' में छपे लेखों द्वारा देशी नरेशों के आमोद-प्रमोद और विलास पर कड़ी फटकार दी, तब नरेशों की थैलियां उन्हें मोह न सकी।

कराची कांग्रेस के अधिवेशन के समय क्रांतिकारी भगतसिंह, सुखदेव और बटुकेश्वर दत्त की आत्माहुति से तड़पने वाले इस अंतःकरण ने उज्जयिनी के चित्रकार स्वर्गीय मुकुंदराव भांड से 'आहुति' नामक चित्र बनवाकर इडियन प्रेस, प्रयाग से छपवाकर वितरित कराया। यह कार्य उन्होंने स्वर्गीय श्री सूरज प्रसाद (उज्जयिनी के दिवंगत निष्ठावान स्वातंत्र्य-सैनिक) के हाथों करवाया था। सारी व्यवस्था गुप्त रूप से हुई थी। जब चित्र बंटे तो अग्रेजी सत्ता चौंकी, क्रुद्ध हुई, किंतु राज खुल न सका।

क्रांतिकारी पंडितजी स्वातंत्र्य-आंदोलन की अहिंसात्मक गतिविधियो मे भी पूरे जोश से भाग लेते रहे। स्वर्गीय आगरकरजी के सार्वजनिक कार्यों में उनका प्रमुख सहयोग रहा। अजमेर के सत्याग्रह में प्रत्यक्ष भाग लिया, पिकेटिंग करके विदेशी माल की बिक्री का विरोध किया। काकोरी केस के एक अभियुक्त क्रांतिकारी विश्वंभरनाथ शर्मा उज्जयिनी में पंडितजी के भारती-भवन में छह मास सुरक्षित रहे। इंदौर रेसिडेंसी ने उन्हें खतरनाक आदमियों की सूची में दर्ज किया। खुफिया पुलिस की निगाह से बचाकर छैलबिहारी उर्फ मि. छगनलाल को भी अपने यहां छिपाए रखा।

सन् 42 के आंदोलन ने उन्हें भी अछूता नहीं रखा। 42 मीटर-बैंड पर गुप्त रेडियो-स्टेशन चलाने का भार अपने ऊपर लिया। इसमें मध्य भारत के एक महाराजा का भी उन्हें सहयोग था। रेडियो-संचालन में बनारस काटन एंड सिल्क मिल्स के मैनेजर स्व. सरदारसिंह जी ने अपरिमित सहायता दी और रेडियो-यंत्रों के वहन में महादेव जोशी ने पर्याप्त सहयोग दिया। परंतु जब स्वतंत्रता-सेनानियों की सूची बनी और ताम्रपत्र एव पुरस्कार की बारी आई, तो पंडितजी ने उसमें तनिक भी रुचि नहीं ली। 1958 में राष्ट्रपति ने उन्हें 'पद्म-भूषण' से सम्मानित किया; किंतु अंग्रेजी को चलाए रखने की सरकारी नीति के विरोध में उन्होंने उसे 1967 मे त्याग दिया

'सिंधिया प्राच्य शोध प्रतिष्ठान' उन्हीं के अथक प्रयत्नों से स्थापित हुआ। पाश्चात्य जर्मन विदुषी मैडम शार्लोट क्राउजी, आठवे शास्त्री, गोपीकृष्ण शास्त्री, स्व.स.ल. कात्रे और पंडित टिल्लू शास्त्री को इस संस्था में लाने का श्रेय भी उन्हीं को है। टिल्लू शास्त्री के अवकाश ग्रहण करने पर पंडितजी मानद नियामक बने; किंतु आर्थिक लाभ न लिया।

जीवन-भर वे विक्रम और कालिदास के अनन्य उपासक रहे और उन दोनों को ई.पूर्व प्रथम शताब्दी का ही मानते रहे। वे आशावादी थे और प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में भी वे अंतःप्रमाणों से यही काल-निर्धारण करते रहे। वर्ष (1975) में, डॉ. भगवतीलाल, राजपुरोहित एवं डॉ. सुरेंद्र कुमार आर्य 'विशाला शोध परिषद्' द्वारा आयोजित 'विक्रम एवं कालिदास का काल' नामक परिचर्या का निमंत्रण देने उनसे मिले। स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी वे उसमें आए और डॉ. भगवतीशरणजी उपाध्याय की अध्यक्षता मे उन्होंने अपने जीवन का अंतिम शोधपूर्ण सार्वजनिक भाषण दिया।

उज्जयिनी से मुझे मिली कृत-मुद्रा से और डॉ. जगदीश गुप्त को मिली भरत-मुद्रा से वे पर्याप्त आनंदित थे। बोले कि मैं जीवन-भर इन महापुरुषों को ई.पू. प्रथम शताब्दी का ही मानता आया हूं और इसकी पुष्टि में मैंने अपनी शक्ति-भर सभी योग्य तर्क दिए हैं; परंतु आज प्रत्यक्ष प्रमाणों ने मेरी धारणा को सबल आधार दिया है। उनके देहावसान के चार दिन पूर्व ही मैं उनसे मिलने गया था। तब वे चिंतित थे--अपने बारे में नहीं, कालिदास महोत्सव के बदलते स्वरूप से, सिंधिया प्राच्य शोध प्रतिष्ठान की शोध-पत्रिका के संबंध में और कालिदास परिषद् के भावी स्वरूप पर।

उनके सफल 'स्वाभिमानी' कर्तृत्वशाली जीवन की कुंजी उन्हीं के शब्दों में यह थी :

आत्मविश्वास ही सदैव मेरा प्रेरक रहा है--संघर्ष और संकट में भी इसने मेरा सदैव साथ दिया है।

'निःस्वार्थ स्नेह मेरी बहुत बड़ी निधि रही है। मैं अभावों में आत्मपरितोष मानता हूं।

'जीवन में स्वार्थ-साधन का मुझ पर आरोप नहीं लगाया जा सकता ओर न सिर झुकाने का ही प्रसंग कभी मेरे सामने आया।

'मुझे अपने जीवन में अब तक विफलताएं बहुत कम मिलीं। जो सफलताएं मिलीं, वे किसी के जीवन-काल में कम ही मिल पाती हैं। मान-सम्मान, प्रतिष्ठा आदि से मैं सदैव दूर भागता रहा हूं; पर वे मिलती ही रही हैं। उससे अंतर में आनंद अवश्य हुआ; पर उसे मैंने अपने ऊपर कभी हावी नहीं होने दिया।'

पंडितजी का यह व्यक्तित्व उनके कार्यों की पूर्ति का भार वहन करने की शक्ति देता है।

पद्मश्री वि. श्री वाकणकर

(नवनीत, दिसम्बर, 1976)

परिशिष्ट-2

सूर्य-स्मरण

"सकल गर्व दूर करी दीवो,
तोमार गर्व छोड़िबे ना।
सबारे डाकिया कहिबे जे दिन,
पावे तव पद रेणु-कणा।।"

'मै अपना और सब गर्व छोड़ दूंगा, मगर जो गर्व मुझे तुम्हारे लिए है वह तो नहीं छोड़ पाऊंगा। इतना ही नहीं, जिस दिन मुझे तुम्हारे चरण-रज-कण की सौवीं धूली भी मिल जाएगी, उसे अपने मस्तक पर धारण कर सारी दुनिया को अपनी सर्वोच्च उपलब्धि के बारे में बताऊंगा।"

'कड़छूल से सागर नापने का प्रयास' या 'सूर्य को दीपक दिखाना' उपमाएं भले ही पुरानी पड़ गई हो मगर फिर भी नई हो जाती हैं अगर जिस पर बात की जा रही हो, वह व्यक्ति सचमुच सूर्य हो। पं. सूर्यनारायण व्यास के बारे में बात करने या लिखने का मन हो तो मन सोचने लगता है कि उनके कौन से आयाम पर बात करें या लिखें? इतिहासकार पं. सूर्यनारायण व्यास, पुरातत्त्ववेत्ता पंडितजी, क्रांतिकारी सूर्यनारायण व्यास, विक्रम पत्र के संपादक पं. व्यास, संस्मरण लेखक, निबंधकार, व्यंग्यकार, कवि पं. व्यास, 'विक्रम विश्वविद्यालय, विक्रम कीर्ति मंदिर, सिंधिया शोध प्रतिष्ठान और कालिदास अकादमी के संस्थापक पंडित व्यास, अखिल भारतीय कालिदास समारोह के जनक पं. सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिष एवं खगोल के अपने युग के सर्वोच्च न्यायालय एवं सूर्य पद्मभूषण, साहित्य

वाचस्पति डॉ. एवं. पं. सूर्यनारायण व्यास, किस आयाम के बारे में बात करे या लिखें?

उज्जयिनी स्थित सिंहपुरी में एक तिमंजिला भवन जहां 2 मार्च 1902 को प्रातः स्मरणीय महामहोपाध्याय, पंडित नारायणजी व्यास के घर में पडित सूर्यनारायण व्यास का जन्म हुआ था। पंडित नारायणजी व्यास महर्षि सांदीपनि की परंपरा के वाहक थे। खगोल और ज्योतिष के अपने समय के इस असाधारण व्यक्तित्व का सम्मान लोकमान्य तिलक एव प. मदनमोहन मालवीय करते थे। पं. नारायण जी महाराज के देश और विदेश में लगभग सात हजार से अधिक शिष्य फैले हुए थे जिन्हें वे वस्त्र, भोजन और आवास देकर निःशुल्क विधा अध्ययन करवाते थे। अनेक इतिहासकारों ने यह भी खोज निकाला है कि, पं. व्यास के उस गुरुकुल में स्वतंत्रता संग्राम के अनेक क्रांतिकारी वेश बदलकर रहते थे।

स्वाभाविक भी था कि युवक पं.सूर्यनारायण व्यास पर भी सशस्त्र क्रांति का प्रभाव पड़े। बाद के दिनों में श्री राजेंद्र माथुर (अब स्वर्गीय) एवं श्री विष्णुकांत शास्त्री ने चर्चा में एवं पत्रों में यह लिखा है, "जब हम छोटे थे तो 'विक्रम' के सोलह पृष्ठ के संपादकीय—'व्यास उवाच' एवं 'बिंदु-बिदु विचार' पढ़ते थे और विस्मय यह होता था कि उज्जैन मे रहने वाला एक व्यक्ति अरब, ईरान, इराक, मलेशिया, रोडेशिया, साइप्रस, तुर्की पर भी लिखता है, बोलशेविक क्रांति पर भी लिखता है रास्पुटिन एवं बोलशेविस्म पर वे 'विक्रम' में लेखमाला चला रहे थे।' शायद वह पूरा का पूरा दौर, पूरी की पूरी पीढ़ी क्रांतिकारियों की थी!

पं. सूर्यनारायण व्यास 18 बरस के रहे होंगे, उनकी प्रतिनिधि रचनाओं के संपादक प्रभाकर क्षोत्रिय को भी यह जानकारी शायद नयी लगे, मुझे भी विस्मयजनक लगी—माधव महाविद्यालय की पत्रिका में उनकी आरंभिक रचना 'शारदोत्सव' 1916 में मराठी में छपी थी, किंतु उससे पूर्व मुझे उर्दू के एक शायर ने पं. व्यास के 'शम्स' उज्जयिनी के नाम से लिखी उर्दू रचनाएं भी दीं—यानि उनके लेखन का काल 1914 तक जाएगा। मैं नहीं जानता कि वे कब से लिख रहे होंगे. 1918 से

तो प्रामाणिक रूप से उनके अनेक लेख तमाम पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलते हैं।

सिद्धनाथ माधव आगरकर का साहचर्य उन्हें किशोरावस्था में ही मिल गया था, लोकमान्य तिलक की जीवनी का अनुवाद उन्होंने आगरकरजी के साथ किया। सिद्धनाथ माधव आगरकर को बहुत लोग अब भूल गए हैं। 'स्वराज्य' संपादक ('कर्मवीर' के पहले संपादक भी आगरकर जी ही थे जिसे माखनलाल चतुर्वेदी ने बाद में संभाला) का पंडितजी को अंतरंग साहचर्य मिला और शायद इसी वजह से वे पत्रकारिता की ओर प्रवृत्त हुए।

तिलक की जीवनी का अनुवाद करते करते वे क्रांतिकारी बने, वीर सांवरकर का साहित्य पढ़ा, सावकर कर की कृति अंदमान की गूंज (Echo from and a man) ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। प्रणवीर पुस्तकमाला की अनेक ज़ब्तशुदा पुस्तकें वे नौजवानों में गुप्त रूप से वितरित किया करते थे। वर्ष 1920-21 के काल से तो उनकी अनेक क्रांतिकारी रचनाएं प्राप्त होती हैं। जो—मालव मयूर, वीणा, वाणी, सुधा, आज, हंस, सरस्वती, चांद, माधुरी, अभ्युदय और स्वराज्य तथा कर्मवीर में बिखरी पड़ी है। वे अनेक नामों से लिखते थे मसलन—'खग', एक मध्य भारतीय, 'मालव-सुत', डॉ चक्रधर शरण डॉ. एकांत बिहारी, व्यासाचार्य, सूर्य-चंद्र, एक मध्य भारतीय आत्मा जैसे अनेक नामों से वे बराबर लिखते रहते थे। 1930 में अजमेर सत्याग्रह में पिकेटिंग करने पहुंचे, मालवा के जत्थों का नेतृत्व भी किया, सुभाष बाबू के आह्वान पर अजमेर में लॉर्ड मेयो का स्टैच्यू तोड़ा, और बाद के काल में वर्ष 1942 में 'भारती-भवन' से गुप्त रेडियो स्टेशन का संचालन भी किया जिसके कारण वर्ष 1946 में उन्हें इंडियन डिफेंस एक्ट के तहत जेल-यातना का पुरुस्कार भी मिला। आजादी के बाद पेंशन और पुरस्कार की सूची बनी तो उसमें उन्होंने तनिक भी रुचि नहीं ली।

सन् 1935-37 में उनकी पहली विदेश-यात्रा के विषय में अब बहुत कम लोग जानते हैं। यात्रा साहित्य के आरंभिक लेखकों में आज लोग

राहुल सांकृत्यायन, भगवत शरण उपाध्याय आदि का नाम लेते हैं, लेकिन कम लोग जानते हैं कि पं. व्यास की यात्रा साहित्य की पहली कृति 'सागर-प्रवास' 1937 में बिहार के लहुरिया सराय से आचार्य शिव पूजन सहाय ने प्रकाशित की थी। हिंदी, मराठी और संस्कृत भाषा में प्रकाशित 'सागर-प्रवास' यात्रा साहित्य में मील का पत्थर है।

यूरोप यात्रा पर जाने से पूर्व महाकाल मंदिर, भारती-भवन तथा सिंहपुरी में वे वर्ष 1928 से 'कालिदास जयंती' मना ही रहे थे, वे सारे सस्मरण मिलते हैं, यूरोप में जगह-जगह पर उनसे पूछा जाता था—उज्जैन, मालवा, मध्य भारत या भारत में क्या कोई कालिदास का स्मारक है? मन में शर्मिंदगी आती थी। पंडित जी के स्वाभिमान को गहरी पीड़ा और चोट लगी और भारत लौटकर उन्होंने अखिल भारतीय कालिदास परिषद् का गठन कर कालिदास समारोह मनाना शुरू किया। लेकिन इधर प्राय. जब मैं कालिदास समारोह के बारे में अखबारों में, पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ता हूं, पिछले 38 सालों में लगातार राजनेताओं एवं बुद्धिजीवियों के भाषण सुनता हुआ बड़ा हुआ हूं—तब मुझे एक बात पर बराबर हैरत होती है कि आज तक किसी ने पं. सूर्यनारायण व्यास के उस 'विज़न' को पकड़ने, द्रष्टा की उस दृष्टि को पकड़ने की कोशिश क्यों नहीं की, जिस पर मैं बराबर चिंतन कर रहा हूं, मुझे लगता है कि महर्षि अरविंद, महर्षि रमण की तरह पं. व्यास भी अपने युग के बहुत बड़े दार्शनिक द्रष्टा थे—विचारक तो वे थे ही चूंकि वे ज्योतिष के भी विदग्ध विद्वान् थे उन्हें मालूम था कि देश तो आजाद होगा ही, आजादी के बाद भी हम मानसिक गुलामी से मुक्त नहीं होंगे क्योंकि हमारे सारे राजनेता पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित थे, सब के सब राजनेता विदेशों से पढ़कर आए थे। सन् 1930 में पं. व्यास ने 'आज' में घोषणा कर दी थी कि 15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र होगा। देश की स्वतंत्रता की अर्द्धरात्रि का मुर्हूत भी उन्हीं का निकाला हुआ था। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने 'टाइम' पत्रिका में एक लेख लिखा था 'हू डज़ नॉट कंसल्ट स्टार्स'। लेख में उन्होंने लिखा है कि देश की स्वतंत्रता की अर्द्धरात्रि का मुर्हूत पं. व्यास से निकलवाया गया था।

साथ ही यह लेख 'हाउ एन इंडियन एस्ट्रॉलाजर सेव द नेशन' भी उपलब्ध है यह बहुत ही महत्त्व पूर्ण बात है—तब पं. व्यास को लगा होगा कि शेक्सपीयर, शेक्सपीयर कहते हुए इन राजनेताओं को बताना होगा कि भारत की अस्मिता में कालिदास नाम का एक कवि, एक महान् नाटककार एक महान् चरित्र मौजूद है। वही हमारे आत्मगौरव के लिए काफी है। और उन्होंने कालिदास के माध्यम से इस सोए हुए राष्ट्र को और उसके सोए हुए देवताओं को देवोत्थानी एकादशी के दिन जगाने का बड़ा कार्य किया। मुझे लगता है कि उस दृष्टि को समझने की अब फिर जरूरत है। जब हम स्वदेशी के बीच विदेशीकरण की ओर जा रहे हैं।

भारतीय रंगमंच की इस सांस्कृतिक आधारशिला को उन्होंने वर्ष 1928 से अखिल भारतीय कालिदास समारोह के रूप में जो उन्होने उज्जयिनी में रखी थी वह आज कालिदास अकादमी के रूप में उनके सपनों का साकार ज्योर्तिबिंब है। राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय और अपना उत्सव तथा भारत भवन से बहुत पहले की यह बात है।

सदियों से हमें पढ़ाया जाता रहा है कि हम मुगलों के, अंग्रेजों के गुलाम रहे हैं—शोषित पीड़ित, पराभूत। अंग्रेजों द्वारा निर्धारित पाठ्य पुस्तक मे पढ़ाया जाता है कि हम 1857 की गदर से हारे, थके, लुटे पिटे, चुके जुआरी हैं। पूरी की पूरी पीढ़ी आत्मविश्वास से हीन बनाई गई। गढ़ी गई। पं. व्यास नें इतिहास से पराक्रम से परिपूर्ण व्यक्तित्व-चरित्र निकाला 'विक्रम द्वि सहस्राब्दि के अवसर पर, ईसा के पूर्व 57 में संवत् प्रवर्तक-विक्रम नामक पराक्रम का चरित्र हमारे यहां मौजूद है जिसने 'शक' एवं 'हूणो' को परास्त किया। इस कायर और पराधीन राष्ट्र को जगाने के लिए निज विक्रम के पराक्रम को आह्वान देने के लिए, पं. व्यास ने 1942 में 'विक्रम' मासिक का प्रकाशन आरंभ किया। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र जैसी क्रांतिकारी हस्ती उनके साथ थी। उस युग के पत्रकार जो कि घर में ही रहकर एक-दूसरे के खिलाफ लिखने का साहस करते थे। उग्र जी पं. व्यास के घर में रहकर उनके विचारों का विरोध करते थे। 'उग्रजी' संपादक व्यासजी 'संचालक' क्या मित्रता रही होगी। लेकिन बड़ों की मित्रता और बड़ों की

शत्रुता बड़े ही जानते हैं। उग्र की मित्रता और शत्रुता आज भी हिंदी में लोग नहीं जान पाए हैं।

कथाकार विनोद शंकर व्यास ने पत्र में एक जगह यह लिखा है कि उग्र को साहित्य में बस दो ही व्यास समझे हैं—एक मैं और एक आप, मैं कह देता हूं और आप चुप रहते हैं। चार-पांच अंकों के संपादन के बाद सरकारी नोटिस के बाद 'उग्र' ने 'विक्रम' से नाता तोड़ लिया। वह एक स्वतंत्र इतिहास है। बाद में संचालक व्यास जी संपादक बने। उन्हीं संपादक व्यासजी ने उज्जैन में 'विक्रम' के नाम पर एक विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प धारण किया, विक्रम कीर्ति मंदिर की स्थापना कर दी, विक्रम स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन हिंदी, मराठी और अंग्रेजी में प्रकाशित एक विलक्षण ग्रंथः जैसा महाभारत के बारे में कहा जाता है कि जो कुछ महाभारत में है वही भारत में है—और जो महाभारत में नहीं वो भारत में भी नहीं। मुझे लगता है उज्जयिनी, कालिदास विक्रम के बारे में ऐसा अद्भुत विलक्षण ग्रंथ मेरे जीवन में अभी तक देखने में नहीं आया। हिंदी, मराठी और अंग्रेजी में 2500 पृष्ठ पर बिखरा हुआ ऐसा अद्भुत काम, जिसे देश-विदेश के सभी चित्रकारों ने इसे सुसज्जित किया हो।

पंत, निराला, बच्चन, सुमन, प्रेमचंद, प्रसाद या महापंडित राहुल सभी बड़े लेखक हैं लेकिन मेरा यह मानना है कि लिख देना फिर भी आसान है लेकिन उसे अपने जीवन में ही चरितार्थ कर देना—उसे अपने जीवन मे उतार लेना। सपने संजो लेना, बड़ी बात नहीं—उसे अपने जीवन में साकार कर देना यह विलक्षण बात है। मैंने तो अपने जीवन में आज तक एक साहित्यकार ऐसा नहीं देखा, जिसने न केवल विक्रम और कालिदास पर लिखा हो उसे अपने जीवन काल में ही उसे स्मारक का रूप भी दे दिया हो। विक्रम विश्वविद्यालय, विक्रम कीर्ति मंदिर, कालिदास एकेडमी, सिंधिया शोध प्रतिष्ठान आज न सिर्फ उज्जयिनी में स्थापित है बल्कि उनके द्वारा आरंभ किया हुआ अखिल भारतीय कालिदास समारोह अतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित है। और यह सब कुछ इतनी विनम्रता से.

इतनी सादगी से कि कहीं कोई नाम तक नहीं चाहा, कहीं अपने नाम का उल्लेख तक नहीं, असाधारण त्याग, तपस्या, और असाधारण साधना ओर अंतः प्रेरणा से आत्मदानी पं. सूर्यनारायण व्यास जन्मते हैं। एक तरफ कवि कालिदास और विक्रम पर फिल्म भी बनवा देना, पृथ्वीराज कपूर को लेकर 'विक्रमादित्य' और भारतभूषण और निरुपाराय को लेकर रंगीन फीचर फिल्म 'कवि कालिदास': दोनों ही चित्रपटो ने रजत जयंती मनाई, तो दूसरी तरफ भारत के पहले सोवियत रूस में कालिदास पर एक डाक टिकट निकलवा देना। हालांकि बाद में भारत में भी कालिदास पर डाक टिकट जारी हुआ—किंतु वह भी पं. व्यास के ही निजी एव एकांतिक प्रयासों से ही संभव हुआ।

आज 'अंग्रेजी हटाओ' की लड़ाई सारे देश में चर्चा में है, राजधानी 'दिल्ली' में भी अनेक 'दुकानें' खुल गई हैं—मगर कितने लोग जानते है कि वर्ष 1958 में 'पद्मभूषण' से सम्मानित पं. व्यास ने 1967 में ही अंग्रेजी को अनंत काल तक जारी रखने के विधेयक के विरोध में अपना पद्मभूषण भी लौटा दिया था। जयप्रकाश और विनोबा भावे से वर्षो पूर्व डाकुओं के आत्मसर्मपण और पुनर्वास का विचार सर्वप्रथम उन्होंने डॉ. राजेंद्र प्रसाद को दिया था और उन्हीं के सुझाव पर डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने डाकू तहसीलदार सिंह (दस्युराज मानसिंह के पुत्र) की फांसी माफ कर दी थी। राजेंद्र बाबू के अनेक पत्र इसके प्रमाण हैं। पत्र साहित्य पर ही नजर दौड़ाएं तो बीस हजार से अधिक पत्रों का विशाल संग्रह होगा, उनका पत्र व्यवहार भी, बेहद नियमित और विस्तृत हुआ करता था। राष्ट्रपिता बापू से लेकर डॉ. राजेंद्र प्रसाद, सरदार, पटेल, पं. नेहरू. के एम. मुंशी, मोरारजी भाई, जगजीवन राम, श्री प्रकाश जी, बाबू संपूर्णानंद से लेकर साहित्यकारों में प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, नवीन, दिनकर, यशपाल, उग्र, बच्चन, सुमन, राहुल, महादेवी वर्मा पूरी पीढ़ी के पत्र मिलेंगे। क्या ही असाधारण व्यक्तित्व रहा होगा सारे देश में चौतरफा इतना पत्र व्यवहार और वह भी नियमित। अखिल भारतीय कालिदास परिषद् और कालिदास समारोह के लिए भी उन्होंने नियमित पत्र व्यवहार किया और डाक-खर्च भी परिषद्

से नहीं स्वयं वहन किया।

पूर्व राष्ट्रपति अब (स्व. डॉ.) शंकरदयाल शर्मा के संयोग से मैं निकट संपर्क में रहा हूं। उन्होंने एक बार मुझे एक महत्त्वपूर्ण बात बताई—'प. व्यास उज्जैन को मध्यप्रदेश की राजधानी बनाना चाहते थे। हमारी उनसे बडी लड़ाई हुई' बैर भी हुआ, हम जवाहरलाल जी के खेमे में थे और पडितजी राजेंद्र बाबू के मित्र थे, जब व्यास जी को राजधानी नहीं मिली तो वे उज्जैन में विश्व विद्यालय ले आए। तब इंदौर और भोपाल में भी विश्वविद्यालय नहीं था। मुझे लगता है कि पंडितजी यह जानते थे मेरे नगर का नौजवान अगर पढ़-लिख लेगा तो वह अपने हक की लड़ाई तो खुद ही लड़ लेगा।

इसलिए जब भी व्यासजी को देखा जाए तो उनके बोए हुए बीजों को, उनके सामर्थ्य को, उनकी प्रतिज्ञा को, उनकी त्याग-तपस्या को, उनके समर्पण को पूरे अर्थों में देखना चाहिए, उनकी समग्रता में देखा जाना चाहिए। वे एक विलक्षण व्यंग्यकार भी हैं तो पहले दर्जे के संस्मरण लेखक भी, व्यंग्य के संदर्भ में यहां यह लिखना समीचीन होगा कि यह उनका केंद्रीय लेखन नहीं है। भारी भरकम शोध से राहत पाने का जरिया है। फिर भी ज्ञानपीठ से शीघ्र प्रकाशित उनका ये व्यंग्य संग्रह 'वसीयत नामा' देखकर अनेक लोगों को हैरानी होगी अनेक नामों से वे लिखते थे। व्यंग्य पर उनकी यह आरंभिक कृति 'तू, तू, मैं, मैं' वर्ष 1935 में पुस्तक भवन, बनारस से प्रकाशित हुई थी। बाद के काल में उन्होंने 'रंग चकल्लस', 'शंकर' स विकली', 'ठिठौली', 'हजामत', 'व्यंग्य-ओ-व्यंग्य' और 'विक्रम' के पूरे के पूरे होली विशेषांक स्वयं लिखे हैं। उज्जयिनी में अभी तक जारी, प्रति वर्ष होने वाले 'टेपा सम्मेलन' के भी वे ही उन्नायक थे। उन्हें छोड़ शायद ही कोई ऐसा व्यंग्यकार हो जिसने अपनी मृत्यु पर भी व्यंग्य लिखा हो 'आंखों देखी अपनी मौत' यह लेख 22 जून 1965 को पहली बार प्रकाशित हुआ, और हैरानी की बात है कि 22 जून को ही ग्यारह

वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हुआ और तब लेख में लिखा व्यंग्य अक्षर-अक्षर सत्य हो गया। एक व्यंग्य लेख उन्होंने 'मूर्ति का मसला' लिखा मानो उन्हें ज्ञात था कि उनके जाने के बाद उनकी प्रतिमा को लेकर उज्जयिनी में वाद और विवाद होंगे। इतिहासकार होने की वजह से उनकी ऐतिहासिक दृष्टि और भविष्यद्रष्टा होने के कारण उनकी भविष्यदृष्टि भी उनके व्यंग्य लेखों में दिखाई देती है जैसे—'मंगलग्रह की सस्ती बस्ती', 'चीन की दीवार गिरने वाली है', 'यदि भारत पाक एक हो जाएं, 'चीनी चूहों की घुसपैठ', ये सभी उनके कुछ व्यंग्यलेखों के शीर्षक हैं। अद्भुत भविष्य दृष्टि और उनके भविष्य दर्शन की तो क्या बात की जाए—भारत की आजादी का मुहूर्त उन्होंने निकाला/1924 में 'आज' बनारस में प्रकाशित एक लेख जिसमें उन्होंने लिखा—"गांधी मरेंगे नहीं, मारे जाएंगे' लेख के अंत मे वे लिखते हैं 'गांधी की हत्या एक ब्राह्मण द्वारा होगी।' 1934 में उनका एक लेख 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित हुआ, यही लेख 'वीर अर्जुन' में भी प्रकाशित है—'भारत का भावी लेनिन—पं. नेहरू' लेखक में स्पष्ट लिखा है कि कैसे उनकी पत्नी का देहावसान होगा, कैसे वे विश्व इतिहास पर लिखेंगे, कब वे मेरी कहानी लिखेंगे और कैसे वर्ष 1947 से दस वर्ष भारत पर शासन करेंगे। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के तत्कालीन संपादक जी.एस.करंदीकर ने व्यासजी को 'जीवित विश्वकोष' कहा था। वर्ष 1941 मे उन्होंने 'कश्मीर के दुर्भाग्य की कथा' लिख दी थी यह लेख सुरक्षित हे। लाल बहादुर शास्त्री ताशकंद जा रहे थे—पं. व्यास ने हिंदी 'हिंदुस्तान' में एक लेख लिखा 'शास्त्रीजी ताशकंद से नहीं लौट पाएंगे', पं. रतनलाल जोशी उस समय संपादक थे वे भी मालवा के थे। उन्होंने मुझे बताया—'मैं स्वयं भयभीत हो गया, प्रधानमंत्री के बारे में ऐसी भविष्यवाणी कौन छाप सकता था। मैंने शास्त्रीजी को सूचित अवश्य किया, वे हंसकर टाल गए।" जब वे नहीं लौटे तब जोशी जी ने यह लेख अपनी संपादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया। असंख्य प्रसंग हैं—स्वतंत्रता पूर्व के 114 'स्टेट्स' के राज ज्योतिषी रहे और स्वतंत्रता

के पश्चात् भारत का एसा कोई राजनेता नही हैं जो उनसे सलाह लेन उनके आवास 'भारती-भवन' नहीं गया हो।

हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं में उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे जिनका आज ऐतिहासिक महत्त्व है। 'कालिदास' और 'विक्रम' पर लिखा उनका साहित्य जग विख्यात है, फिर भी उनका बहुत सा साहित्य अप्रकाशित या पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है अपने व्यस्ततम जीवन में जिसे वे पुस्तककार नहीं दे पाए।

यह उपुयक्त ही है कि स्व. व्यासजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनका दुर्लभ साहित्य उपयुक्त साज-सज्जा और टाट-बाट से प्रकाशित हो। व्यास जी का पत्र-साहित्य, संस्मरण साहित्य और व्यंग्य साहित्य भी बेहद विस्तृत है। पं. व्यास का व्यंग्य संग्रह 'वसीयतनामा' भारतीय ज्ञानपीठ से शीघ्र प्रकाश्य है और पहली व्यंग्यकृति 'तू-तू मैं-मैं' आपके हाथों मे है। पंत, निराला, बच्चन, दिनकर, महादेवी वर्मा, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, से लेकर मुक्तिबोध तक पाश्चात्य साहित्यकार से लेकर संत, राजनेता से लेकर राजा महाराजा, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, उद्योगपतियों में बिरला, मफतलाल से लेकर आचार्य तुलसी और सुशील कुमार तक, क्रांतिकारियों में चंद्रशेखर आजाद से लेकर विजयसिंह पथिक तक, कलाकारों में पृथ्वीराजकपूर, भारत भूषण, प्रेम अदीब, पं. प्रदीप, विजय भट्ट से लेकर पं. ओंकारनाथ ठाकुर से कुमार गधर्व तक उनके निजी एवं अंतरंग संपर्क थे। इन सभी व्यक्तियों पर समय-समय पर कभी उनके अभिनंदन ग्रंथों में, कमी उनके जीवन काल मे तो कभी किसी की स्मृति में तो किसी विशेष अवसर पर-लिखे पं. व्यास के मार्मिक संस्मरण उन महान् जीवन के अनछुए पहलू, अंतरंग प्रसंगों पर प्रकाश डालते हैं।

कभी हंसी के ठहाके तो कभी आंखों में आंसू लाने वाले वे संस्मरण युग की धरोहर हैं। चूंकि पं. व्यास ज्योतिष जगत् के भी मर्मज्ञ थे (दाई से कहां पेट छुपता है?) अतः अनेक गोपनीय एवं अंतरंग प्रसंग भी इन संस्मरणों की संपदा हैं। उन सारे संस्मरणों से गुजरने पर एक बात बहुत

साफ तौर पर दिखाई देती है स्पष्ट होती कि मनुष्य का सत्संग अपने जैसे ही लोगों के साथ होता है—सारे के सारे लोग जिन पर संस्मरण-लेख आत्मदानी, निराभिमानी और घनघोर स्वाभिमानी थे। ऐसे ईमानदार राष्ट्रकर्मी अब कहां?

उनके इन संस्मरणों की कृति 'यादें' भी इसी वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो रही है!

मैं तो केवल इतना ही कहना चाहूंगा कि वह दौर दूसरा था जब लोग घर को खाली करके समाज भरते थे। पं. सूर्यनारायण व्यास ने अपना घर खाली कर समाज को भरा, आज लोग समाज को खाली कर अपना घर भर रहे हैं। मुझे तो उनका सान्निध्य बहुत कम मिला, शायद चुंबक में कोई एक स्पर्शीय शक्ति होती है जिसे लौह पर घिसने से लौह भी चुंबक बन जाता है। मैं तो यही कहूंगा कि चंदन की छाया में कुछ दिन रहने का सौभाग्य मिला था, दुनिया समझ रही है मुझको, मैं भी मलियानील हूं, चंदन हूं।

उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर, उनके कर-कमलों से निसृत आरंभिक व्यंग्य कृति 'तू-तू-मैं-मैं' हिंदी साहित्य संसार को समर्पित करते हुए क्या कहूं सिवा इसके—कि—"ये तुम्हारा नूर है जो पड़ रहा है मेरे चेहरे पर, वर्ना कौन देखता मुझे अंधेरों में?

—राजशेखर व्यास

नई दिल्ली

21.2.2001

सूर्योदय से सूर्यास्त

।। व्यासाचार्य ।।

पद्मभूषण पं. सूर्यनारायण व्यास

(जीवन-वृत्त)

जन्म तिथि	:	2 मार्च, 1902 (कार्तिक कृष्ण 8 संवत् 1959)
निर्वाण तिथि	:	22 जून, 1976. (आषाढ़ कृष्ण दशमी संवत् 2033)
शिक्षा	:	पं. नारायण व्यास के आश्रम में तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में अध्ययन। इतिहास संस्कृति, ज्योतिष, राजनीति, एवम् साहित्य विषयों का स्वाध्याय
कार्य	:	1918 से नियमित लेखन प्रारंभ 1920 से 1934 समाजसेवी कार्यों में संलग्न। सशस्त्र क्रांतिकारियों और प्रखर राष्ट्रीय पत्रकारिता से संबद्ध 1930 स्वतंत्रता संग्राम के अंतर्गत सत्याग्रह ग्वालियर राज्य-खादी बोर्ड का प्रारंभ 1932 इतिहास संशोधन सभा की स्थापना 1932 नर्मदा घाटी शोध बोर्ड का प्रारंभ 1934-1972 शोध कार्य एवं सतत साहित्य-लेखन

1936 अखिल भारतीय कालिदास परिषद् की प्रतिष्ठा

1937 यूरोप-प्रवास
(फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इंग्लैंड, रोम आदि)

1941 मध्यभारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन, महू और उज्जैन में
विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव अपनी अध्यक्षता में सर्वानुमति से स्वीकृत कराया।

1942 विक्रम द्वि सहस्राब्दि महोत्सव अभियान-प्रारंभ विक्रम कीर्ति मंदिर की स्थापना का प्रयास

1942-55 'विक्रम' का संपादन
(1945 से 49 तक प्रकाशन में अंतराल)

1946 'इंडिया डिफेंस एक्ट' के तहत क्रांतिकारी विचारों और प्रवृत्तियों के लिए एक वर्ष तक नजरबंद
अक्टूबर, 1968 सिंधिया प्राच्य शोध प्रतिष्ठान के मानद निदेशक

उपलब्धियां : 1.3.1957 विक्रम विश्वविद्यालय की स्थापना

1964 विक्रम कीर्ति मंदिर की स्थापना

1976 कालिदास अकादेमी की स्थापना

1938-39 उज्जैन के उत्खनन
(गढ़कालिका, वैश्य टेकरी, कुम्हार टेकरी आदि)
से पुरातन सांस्कृतिक अवशेषों की प्राप्ति

:	1933	नर्मदा घाटी सभ्यता का शोध एवम् उत्खनन कार्य
	1968	सिंधिया प्राच्य शोध संस्थान, के मानद निदेशक
पद अध्यक्षता :		ग्वालियर राज्य खादी बोर्ड
	1932	इतिहास संशोधन सभा
		सर्वधर्म सम्मेलन (कार्याध्यक्ष)
	1938-72	कार्याध्यक्ष, अखिल भारतीय कालिदास परिषद्
	1941	मध्यभारतीय हिंदी साहित्य सम्मलेन, महू
	1953	अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की विज्ञान परिषद् की अध्यक्षता- हरिद्वार में
		उप-प्रधान, सिंधिया प्राच्य ग्रंथ संग्रहालय
	1952	मालव लोक-साहित्य परिषद्
	1964	अखिल भारतीय गुर्जर गौड़ सभा में सोलहवें अधिवेशन के उद्घाटनकर्ता
	1964-68	हिंदी साहित्य परिषद्, उज्जैन की स्थापना
	अक्टूबर, 1968	सिंधिया प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान के मानद-निदेशक जीवन पर्यन्त
	1976	कालिदास अकादेमी की स्थापना हेतु प्रयास
सदस्यता :		नागरी प्राचारिणी सभा
:		विश्व धर्म सम्मेलन, दिल्ली (परामर्श-दाता)
:		प्रतिकल्पा, मासिक (परामर्शदाता)

	: अखिल भारतीय इतिहास परिषद् पटना
	: मध्यभारतीय गांधी निधि समिति
	: बिहार सहायता कोष
	: कस्तूरबा महिला विद्यालय, चंद्रावतीगंज
	: अखिल भारतीय लेखक संघ, प्रयोग
	: राजधानी समिति मध्यभारत (विशेष प्रतिनिधि)
	: 'विक्रमादित्य' और 'कालिदास' फिल्म के परामर्शदाता
	: विक्रम विश्वविद्यालय की सीनेट के सम्मानित सदस्य
अन्य उत्तरदायित्व	: मंगलाप्रसाद पारितोषिक के निर्णायक
	: बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के पी-एच.डी. के निर्देशक
	: 1.7.58-7.4.66 विक्रम विश्वविद्यालय की प्रशासिका के सम्मानित सदस्य
	: 8.12.71 से 1972 कुलाधिपति द्वारा मनोनीत सदस्य
प्रकाशन	: शीर्षस्थ शोध-पत्रिकाओं से लेकर देशभर के दैनिक, साप्ताहिक, पत्र-पत्रिकाओं मे अनवरत 50 वर्ष तक लेखन कार्य। लगभग 1500 निबंध, लेख, व्यंग्य, कविताएं आदि प्रकाशित
पुस्तकें	: समालोचनात्मक—

1. प्रबंध चिंतामणि का आलोचनात्मक अध्ययन
2. विश्ववन्द्य महाकवि कालिदास (निबंधसंग्रह)
3. यात्रावर्णन : सागर प्रवास (1940)
4. हास्य-व्यंग्य : तू-तू-मैं-मैं (1936)

5. सस्कृत कविता- भव्य विभूतय- (1931)
6. परिचय : जाग्रत नारियां (1931)
7. ज्योतिष : कुण्डली संग्रह (भविष्य कथन सहित, 1940)

: अनुवाद—

: 1. सरस्वतीचंद्र (गुजराती उपन्यास का हिंदी अनुवाद, 1928)

: 2. राक्षसकाव्य (संस्कृत से हिंदी पद्यानुवाद)

: 3. अश्वघाटी काव्य (महामहोपाध्याय जगन्नाथ कृत संस्कृत काव्य का हिंदी पद्यानुवाद)

: 4. लोकमान्य तिलक की जीवनी (एन.सी. भाले) (मराठी से हिंदी में अनुवाद आगरकरजी के साथ)

: कोष—

1. मध्यभारत की विशिष्ट विभूतियां

: सम्पादन—

1. विक्रम स्मृति ग्रंथ,
2. उज्जयिनी-दर्शन,
3. कालिदास प्रेरित शिल्प शृंगार

सम्मान-समादर : : राष्ट्रीय सम्मानपद्मभूषण (1958) (भारत शासन का सम्मान)

: विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट्. (1963) (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन)

: साहित्य-संस्थान द्वारा साहित्य वाचस्पति (1968) (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ताम्रपत्र-सम्मान (1972) (म. प्र. शासन साहित्य परिषद्, भोपाल)

मालवा भूमि के तपःपूत साधक पं. सूर्यनारायण व्यास मालवा साहित्य एवं संस्कृति के उत्थान के लिए अहर्निश प्रयत्न करते रहे। उनके द्वारा उज्जैन में विक्रम विश्वविद्यालय, विक्रम कीर्ति मंदिर, कालिदास अकादेमी एवं सिन्धिया प्राच्य विधा शोध प्रतिष्ठान जैसे राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं की स्थापना की गई। उनके ही संकल्प से अखिल भारतीय कालिदास समारोह का शुभारंभ, उज्जैन में हुआ जो आज अपना अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर चुका है। ज्योतिष शास्त्र के वे उद्भट विद्वान् थे, जिनकी भविष्यवाणी सच सिद्ध होती थी। देश के राष्ट्रीय नेता एवं विभूतियां उनसे विचार-विमर्श करने आते रहते थे। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारियों को सदैव सहयोग दिया तथा ओजस्वी पत्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। हिंदी साहित्य, संस्कृत साहित्य, मालवी साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, राजनीति, ज्योतिष, पत्रकारिता, हास्य-व्यंग्य फिल्म-निर्माण, धर्म एवं समाज सेवा आदि विविध क्षेत्रों में उनका योगदान नितांत महत्त्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय है। वे अपने समय के विराट व्यक्ति थे तथा मालवा की साहित्य एवं सांस्कृतिक परंपरा के सच्चे संरक्षक थे।

❑❑❑

व्यासाचार्य का यह परिचय अत्यंत संक्षिप्त एवं नितान्त अधूरा एवं अपूर्ण है।—सं.